वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५२ अंक १ जनवरी २०१४

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५२ जनवरी २०१४ अंक १

पुरखों की थाती

त्यक्त्वात्म-सुख-दुःखेच्छां सर्व-सत्त्वगुणैषिणः।
भवन्ति पर-दुःखेन साधवोऽत्यन्त दुःखिनः ।। ३४४

– पूर्ण सत्त्वगुण की इच्छा रखनेवाले महात्मा अपनी स्वयं की सुख-दुःख की इच्छा का तो त्याग कर देते हैं, पर दूसरों के दुख से द्रवित होकर अत्यन्त दुखी भी हो जाते हैं।

त्यजति शूर्पवद्-दोषान् गुणान् गृह्णाति साधवः ।
दोषग्राही गुणत्यागी चालिनीव हि दुर्जनः ।। ३४५

– सज्जन लोग सूप के समान दोषों को त्यागकर गुणों को ग्रहण कर लेते हैं और दुर्जन लोग चलनी के समान गुणों को छोड़कर दोषों को ही पकड़ लेते हैं।

त्यज दुर्जन-संसर्गं भज साधु-समागमम् ।
कुरु पुण्यम्-अहोरात्रं स्मर नित्यम्-अनित्यताम् ।। ३४६

– दुर्जनों का संग त्याग दो, सज्जनों की संगति का सेवन करो, दिन-रात पुण्य-सत्कर्म करते रहो और निरन्तर जगत् की अनित्यता को स्मरण रखो।

त्याग एको गुणः श्लाघ्यः किमन्यैर्गुणराशिभिः ।
त्यागाज्जगति पूज्यन्ते नूनं वारिद-पादपाः ।।३४७

– एकमात्र त्याग ही सर्वाधिक प्रशंसनीय गुण है, अन्य गुणों की कोई जरूरत नहीं; इस जगत् में बादल तथा पेड़-पौधे भी अपने त्याग के कारण ही पूजे जाते हैं।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ।।३४८।।

– मनुष्य को चाहिये कि आवश्यकता पड़े, तो अपने पूरे कुल की रक्षा हेतु एक व्यक्ति का त्याग कर दे; पूरे गाँव के उपकार हेतु अपने कुल का हित त्याग दे; देश की सेवा हेतु अपने गाँव का मोह छोड़ दे और आत्मा की अनुभूति के लिये यदि आवश्यक हो, तो पूरी दुनिया का ही त्याग कर दे।

त्यजेत्क्षुधार्त्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितो किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।।३४९।।

– भूख से व्याकुल माता अपने पुत्र को भी त्याग देती है। भूखी सर्पिणी अपने ही अण्डे को खा जाती है। ऐसा कोई भी पाप नहीं, जिसे भूखा मनुष्य न कर सकता हो! (क्योंकि) भूख से व्याकुल मनुष्य निर्दयी हो जाते हैं।

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं
दाराश्च पुत्राश्च सुहृज्जनाश्च ।
तं अर्थवन्तं पुनराश्रयन्ति
अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः ।।३५०।।

– निर्धन मनुष्य को उसके पत्नी, पुत्र, सगे-सम्बन्धी तथा मित्रगण भी त्याग देते हैं। वही यदि पुनः धनवान हो जाय, तो वे लोग फिर से आकर जुड़ जाते हैं। सच कहें तो, इस संसार में धन ही मनुष्य का सच्चा मित्र है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।
त्वमेव बन्धुश्चसखा त्वमेव ।।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।३५१।।

– हे देवाधिदेव प्रभु, इस संसार में तुम्हीं मेरे माता और पिता हो, तुम्हीं मेरे मित्र और सखा हो, तुम्हीं मेरी विद्या तथा धन हो और तुम्हीं मेरे सब कुछ – सर्वस्व हो। **(पाण्डव गीता, २)**

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

भोगवाद के काले बादल, जब सारी दुनिया में छाए,
सब धर्मों में प्राण जगाने, स्वामी विवेकानन्द आए ।।

शुभ सन्मार्ग दिखाया जग को, सच्चा कर्म सिखाया सबको,
त्याग और सेवा से ईश्वर, पाने का पथ-सुगम बताए ।। स्वामी...

सुन सन्देश जगत् मोहित है, मेधा देख चकित-विस्मित है,
हृदय कमल करुणा से पूरित,
सुन्दर रूप सहज मन भाए ।। स्वामी...

है व्यक्तित्व परम मनभावन, जीवन-चरित पतित-जन-पावन,
उनका स्मरण-मनन औ चिन्तन,
नित 'विदेह' मन-मधुप लुभाए ।। स्वामी...

– २ –

(मालकौंस–कहरवा)

जन्म लिया है स्वामीजी ने,
करने हम सबका उत्थान,
समता का गुरु-पाठ पढ़ाने,
देकर उपनिषदों का ज्ञान ।।

भोगवाद है अति दुखदाई,
इसमें डूब न जाना भाई,
अब दुनिया को लेना होगा,
धर्मसहित भौतिक-विज्ञान ।।

दीन-दुखी को इष्ट बनाया,
सेवा को पूजा बतलाया,
नर में नारायण बसते हैं,
सिद्ध किया दे ठोस प्रमाण ।।

उनके उपदेशों पर चलना,
कभी दूसरों से मत जलना,
अन्तर में करना 'विदेह' नित,
उनकी मोहक छवि का ध्यान ।।

– *विदेह*

देश के लिये मेरी कार्ययोजना

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

पाश्चात्य लोगों के लिए मेरा सन्देश ओजस्वी रहा है; तुम्हारे लिए मेरा सन्देश उससे भी अधिक ओजस्वी है। मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि नवीन पश्चिमी राष्ट्रों के लिए पुरातन भारत का सन्देश प्रकट करूँ – भविष्य निश्चित रूप से बतायेगा कि मैंने यह कार्य सही ढंग से सम्पन्न किया या नहीं; पर उसी आसन्न भविष्य के सशक्त-सबल स्वरों की कोमल, पर स्पष्ट मृदु ध्वनि अभी से सुनायी देने लगा है – भावी भारत का सन्देश वर्तमान भारत के लिए; और जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, यह मर्मर ध्वनि सबलतर और स्पष्टतर होती जा रही है।

मुझे जिन विविध राष्ट्रों को देखने-समझने का सौभाग्य मिला, उनके बीच मैंने अनेक आश्चर्यजनक संस्थाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों और शक्ति तथा बल की अद्भुत अभिव्यक्तियों का अध्ययन किया है; पर इन सबमें सर्वाधिक विस्मयकारी यह उपलब्धि थी कि रहन-सहन, प्रथाओं, संस्कृति और शक्ति की उन बाह्य विभिन्नताओं – ऊपरी विभेदों के अन्तराल में एक ही प्रकार के दु:ख-सुख से, एक ही प्रकार की शक्ति और दुर्बलता से अनुप्रेरित वही सबल मानव हृदय स्पन्दित हो रहा है।

भलाई और बुराई सर्वत्र है; और दोनों के पलड़े अद्भुत रूप से बराबर हैं। पर सर्वत्र सर्वोपरि है, मनुष्य की महिमामयी आत्मा, जो उसकी ही भाषा में बोलनेवाले किसी भी व्यक्ति को समझने में कभी नहीं चूकती। हर जगह ऐसे नर-नारी हैं, जिनका जीवन मानव जाति के लिए वरदान स्वरूप है और जो दिव्य सम्राट् अशोक के इन शब्दों को सत्य सिद्ध करते हैं – "प्रत्येक देश में ब्राह्मणों और श्रमणों का निवास है।"

मैं उन पाश्चात्य देशों का आभारी हूँ, जिसके अनेक सहृदय लोगों ने उस प्रेम के साथ मेरा स्वागत-सत्कार किया है, जो केवल शुद्ध और निष्काम आत्माओं द्वारा ही सम्भव है। पर मेरे जीवन की निष्ठा तो अपनी इस मातृभूमि को अर्पित है। यदि मुझे हजार जीवन भी प्राप्त हों, तो हे मेरे देशवासियो, हे मेरे मित्रो, मेरे उस प्रत्येक जीवन का प्रत्येक क्षण, तुम्हारी सेवा में अर्पित रहेगा।

क्योंकि मेरे पास शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, जो कुछ भी है, सबका सब इसी देश की देन है; और यदि मुझे किसी कार्य में सफलता मिली है, तो कीर्ति तुम्हारी है, मेरी नहीं। मेरी अपनी तो केवल दुर्बलताएँ और असफलताएँ हैं; क्योंकि जन्म से ही जो महान शिक्षाएँ इस देश में व्यक्ति को अपने चतुर्दिक बिखरी और फैली हुई मिलती हैं, उनसे लाभ उठाने की मेरी असमर्थता से ही इन दुर्बलताओं और असफलताओं की उत्पत्ति हुई है। ...

हम सभी भारत के पतन के बारे में बहुत कुछ सुनते हैं। एक समय था, जब मैं भी इसमें विश्वास करता था। पर आज अनुभव की अग्रभूमि पर खड़े होकर, दृष्टि को पूर्वाग्रहपूर्ण कल्पनाओं से मुक्त करके; और सर्वोपरि, अन्य देशों के अतिरंजित चित्रों को प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा उचित प्रकाश और छायाओं में देखकर मैं अत्यन्त विनम्रता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मैं गलत था। हे आर्यों के पावन देश! तू कभी पतित नहीं हुआ। राजदण्ड टूटते रहे और फेंक दिय जाते रहे, शक्ति की गेंद एक हाथ से दूसरे हाथ में उछलती रही है, पर भारत में राजदरबारों और राजाओं का प्रभाव सर्वदा थोड़े-से लोगों को ही छू सका है – उच्चतम से निम्नतम तक विशाल जनसमुदाय अपनी अपरिहार्य जीवनधारा का अनुसरण करने के लिये मुक्त रही है; और राष्ट्रीय जीवनधारा कभी मन्द तथा अर्धचेतन गति से और कभी प्रबल तथा प्रबुद्ध गति से प्रवाहित होती रही है। उन बीसों ज्योतिर्मय शताब्दियों की अटूट शृंखला के सम्मुख मैं तो विस्मयाकुल खड़ा हूँ, जिनके बीच यहाँ-वहाँ एकाध धूमिल कड़ी है, जो अगली कड़ी को और भी अधिक ज्योतिर्मय बना देती है; और इनके बीच इनकी गति में अपने सहज महिमामय पदक्षेप के साथ प्रगतिशील है मेरी यह मातृभूमि – अपने यशोपूरित लक्ष्य की सिद्धि के लिए – जिसे – पशु-मानव को देव-मानव में रूपान्तरित करने से, धरती या आकाश की कोई शक्ति रोक नहीं सकती।[१]

यह सनातन पुण्यभूमि, जिसने मुझे यह शरीर दिया है, मैं उसकी ओर महान् श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ और उन कृपालु प्रभु के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे पृथ्वी के इस पवित्रतम स्थान में जन्म लेने की अनुमति दी है। जबकि सारा संसार बाहुबलियों तथा धनवानों में अपनी आनुवंशिकता तलाश रहा है, एकमात्र हिन्दू ही सन्तों का वंशज होने में गौरव का अनुभव करते हैं।

वह अद्भुत जलयान, जो युगों से असंख्य नर-नारियों को जीवन-समुद्र के पार ले जाता रहा है, सम्भव है उसमें जहाँ-तहाँ कुछ छोटे-मोटे छिद्र हो गये हों। और प्रभु ही जानते हैं कि इन छिद्रों के लिये कितना वे लोग स्वयं जिम्मेदार हैं और कितना वे लोग, जो हिन्दुओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं!

परन्तु यदि ऐसे छिद्र हैं, तो उनकी सबसे निकृष्ट सन्तान के रूप में मैं इसे अपना कर्तव्य समझता हूँ कि अपनी जान देकर भी मैं उसे डूबने से रोकूँ। और यदि मुझे लगे कि मेरे सारे प्रयास निरर्थक सिद्ध हुए, तो भी, मैं ईश्वर को साक्षी रखते हुए अपने हार्दिक आशीर्वादों के साथ यही कहूँगा, "मेरे भाइयो, तुम्हारे जैसी परिस्थितियों में कोई भी जाति जितनी भी कर सकती थी, उनकी अपेक्षा तुमने बहुत अच्छा किया है। मेरे पास जो कुछ भी है, वह तुम्हारा ही दिया हुआ है। मुझे अन्त तक अपने साथ रहने का सौभाग्य प्रदान करो और आओ, हम सब एक साथ मिलकर डूबें।[२]

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता; और जब-जब गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा के चलते ऐसा प्रयत्न किया गया, तब-तब उसका परिणाम उस पृथक् होनेवाले पक्ष के लिए सर्वथा घातक सिद्ध हुआ।

मेरी समझ में भारत की अधोगति तथा पतन अवनति का एक मुख्य कारण राष्ट्र के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक ऐसी दीवार खड़ी कर देना ही था, जिसकी नींव दूसरों के प्रति घृणा पर स्थापित थी; और जिसका यथार्थ उद्देश्य प्राचीनकाल में हिन्दू-जाति को आसपास वाली बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखना था।[३]

मेरे जीवन के सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह भी रहा है कि मैं अपने पूर्वजों की सन्तान कहलाने में लज्जित नहीं होता। मुझ जैसा गर्वीला मानव इस संसार में शायद ही हो, पर मैं यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि यह गर्व मुझे अपने स्वयं के गुण या शक्ति के कारण नहीं, वरन् अपने पूर्वजों के गौरव के कारण है। जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूतकाल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही यह गर्व मुझमें बढ़ता गया है। इससे मुझे श्रद्धा की उतनी ही दृढ़ता और साहस प्राप्त हुआ है, जिसने मुझे धरती की धूलि से ऊपर उठाया है और मैं अपने उन महान् पूर्वजों के निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ।[४]

यद्यपि मैं हिन्दू जाति में एक नगण्य व्यक्ति हूँ, तथापि अपने राष्ट्र और अपने पूर्वजों के गौरव से मैं अपना गौरव मानता हूँ। अपने को हिन्दू बताते हुए, हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए, मुझे एक प्रकार का गर्व सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य ऋषियों के वंशधर हो – उन ऋषियों के, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। मुझे इसका गर्व है कि मैं तुम्हारे देश का एक नगण्य नागरिक हूँ। अतएव, भाइयो, आत्मविश्वासी बनो। पूर्वजों के नाम से अपने को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो।[५]

मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ और देशभक्ति के विषय में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय प्रेरणा का स्रोत है? प्रेम असम्भव द्वारों को भी उन्मुक्त कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है। अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं, और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या इसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पत्नी-पुत्र, धन-सम्पत्ति; और यहाँ तक कि अपने शरीर तक की सुध बिसर बैठे हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है![६]

पिछले हजार या उससे कुछ अधिक वर्षों से तुम्हें बताया गया है कि तुम दुर्बल हो, तुममें कुछ भी करने की क्षमता नहीं है, आदि, आदि; और तुम भी स्वयं को वैसा ही समझने लगे हो। मेरा यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है, परन्तु मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा। देखो, इसी कारण

उसकी (ईश्वर की) इच्छा से, जो हमको चिर काल से तुच्छ समझते रहे हैं, उन्होंने ही मेरा देवता-जैसा सम्मान किया है और करते हैं। यदि तुम लोग भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह विद्यमान है और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको, तो मेरे समान हो जाओगे। तुम कहोगे – "ऐसा चिन्तन करने की शक्ति कहाँ से मिलेगी और ऐसे शिक्षक भी कहाँ हैं, जो बचपन से ही ये बातें सुनाते और समझाते रहें?" इसीलिए तो, भिन्न प्रकार से सिखलाने और दिखलाने के लिए मेरा आगमन हुआ है। तुम लोग मुझसे इस तत्त्व को सीख लो, अनुभूति करो; और उसके बाद तुम नगर-नगर, गाँव-गाँव, गली-गली में जाकर यह भाव फैला दो। प्रत्येक भारतवासी के पास जाकर कहो, "उठो, जागो, अब स्वप्न देखना बन्द करो। सारे अभाव और दु:ख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है, इस बात पर विश्वास करो और इतने से ही वह शक्ति जाग उठेगी।"[७]

मैं दिव्य चक्षु से देख रहा हूँ, तुम लोगों में अनन्त शक्ति का स्रोत है! उस शक्ति को जगाओ; उठो, उठो, जाकर कमर कस लो। क्या होगा, इस क्षणभंगुर धन-सम्मान को लेकर? मेरा भाव जानते हो? – मैं मुक्ति आदि नहीं चाहता। तुम लोगों में ऐसे ही भावों को जगा देना – यही मेरे जीवन का उद्देश्य है। एक मनुष्य तैयार करने के लिए मैं लाखों जन्म लेने के लिए तैयार हूँ।[८]

जहाँ तक मेरा सवाल है, अपने देशवासियों की उन्नति के लिये मैंने जो कार्य आरम्भ किया है, उसे पूरा करने के लिये यदि आवश्यक हुआ, तो मैं दो सौ बार जन्म लूँगा।[९]

इस जीवन में मुझे बहुत-से कठिन कार्य सम्पन्न करने होंगे। पिछली बार की तुलना में इस बार बहुत अधिक करना है।... इस बार मुझे जीवन के अन्तिम क्षण तक कार्य करना होगा!... अभी तो मैंने कार्य आरम्भ मात्र किया है; अमेरिका में मैंने मात्र एक या दो तरंगें उठायी हैं; एक महातरंग उठानी होगी; समाज को बिल्कुल उलट-पलट देना होगा। दुनिया को एक नयी सभ्यता देनी होगी। तब सम्पूर्ण विश्व समझेगा कि वह शक्ति क्या है और मैं किसलिये आया हूँ। पिछली बार मैंने जो शक्ति प्रकट की थी, उसकी तुलना में इस बार की शक्ति अत्यन्त प्रबल होगी।[१०]

तुम्हें और हमें रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नहीं सकता, अपने कार्य के लिए वे धूल से भी हजारों कर्मी पैदा कर सकते हैं। उनके नेतृत्व में कार्य करने का सौभाग्य मिलना ही हमारे लिये परम गौरव की बात है।[११]

गुरुदेव के काम के लिए जनता में कुछ प्रचार-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। वह हो गया, यह अच्छा हुआ।[१२]

भारत लम्बे अर्से से दु:ख सह रहा है; सनातन धर्म दीर्घ काल से अत्याचार झेल रहा है। पर ईश्वर दयामय हैं – वे फिर अपनी सन्तानों के उद्धार हेतु आये हैं – पतित भारत को पुन: उठने का सुयोग मिला है। श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठने पर ही भारत का उत्थान हो सकता है। उनकी जीवनी तथा उनकी शिक्षाओं को चारों ओर फैलाना होगा, – हिन्दू समाज के हर अंग में, उसके रग-रग में उन्हें भरना होगा।[१३]

मेरे गुरुदेव कहते थे कि हिन्दू, ईसाई आदि विशेषण मानव-मानव के बीच होनेवाले भ्रातृप्रेम में बड़ी बाधा डालते हैं। पहले हमें इन्हें तोड़ने की चेष्टा करनी होगी। उनकी कल्याणकारी शक्ति अब नष्ट हो चुकी है; अब उनका मात्र वह पापमय प्रभाव रह गया है, जिसके मलिन जादू से हमारे सर्वश्रेष्ठ मनुष्य भी राक्षसों का-सा व्यवहार करने लगते हैं। हमें बहुत परिश्रम करना पड़ेगा और सफलता पानी होगी।

इसीलिए एक केन्द्र स्थापित करने की मेरी इतनी प्रबल इच्छा है। संगठन में निस्सन्देह अवगुण होते हैं पर उसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। ...

मनुष्य को अन्त:प्रेरणा से काम करना चाहिए और यदि वह काम भला और कल्याणकारी है, तो अपनी मृत्यु के बाद और शताब्दियों बाद भी, समाज की भावना में बदलाव जरूर आयेगा। पूरे तन-मन और जी-जान से हमें काम में लग जाना चाहिए। जब तक हम मात्र एक; और केवल एक ही आदर्श के लिए अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार न होंगे, तब तक हम कदापि सफलता का आलोक नहीं देख सकेंगे।

जो मनुष्य-जाति की सहायता करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे अपने सुख-दुख, नाम-यश और अन्य सभी तरह के स्वार्थों की एक पोटली बनाकर समुद्र में फेंक दें और तब वे ईश्वर के पास आयें। सब आचार्यों ने यही कहा और किया है।...

मेरे सारे विचार तथा समग्र जीवन प्रभु को समर्पित है। अन्य कोई नहीं, केवल प्रभु ही मेरी सहायता करेंगे। सफलता प्राप्त करने का यही एकमेव रहस्य है।[१४]

उस सुदूर अतीत में – जहाँ न तो लिपिबद्ध इतिहास और न परम्पराओं का मद्धिम प्रकाश ही प्रविष्ट हो पाता है, अनन्त काल से वह स्थिर आलोकपुंज बना हुआ है, जो कभी तो बाह्य परिस्थितियों के कारण थोड़ा मद्धिम हो जाता है और कभी अत्यन्त देदीप्यमान, परन्तु वह सदा शाश्वत और स्थिर रहकर अपना ज्योतिर्मय प्रकाश – मात्र भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विचार-जगत् को – अपनी मौन, अदृश्य, मृदु, तथापि सर्वसमर्थ शक्ति से वैसे ही ओतप्रोत करता रहा है, जैसे ब्राह्ममुहूर्त के ओसकण लोगों की दृष्टि के परे रहकर अज्ञात रूप से गुलाब की सुन्दर कलियों को खिला देते हैं – यह प्रकाश उपनिषदों के ज्ञान का है, वेदान्त के दर्शन का है।... मैं नि:संकोच भाव से कहता हूँ कि यह वेदान्त – यह

उपनिषदों का दर्शन अध्यात्म-राज्य का प्रथम और अन्तिम विचार है, जो मानव-जाति को अनुग्रहपूर्वक मिला है। ...

भारत में, ... प्राचीन काल में और आज भी, अनेक परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों के रहने पर भी, वे सभी उपनिषद् या वेदान्त रूप एकमात्र प्रमाण पर अधिष्ठित हैं।... भारत के सभी सम्प्रदायों को उपनिषदों का प्रमाण मानकर चलना होगा, परन्तु इन सब सम्प्रदायों में हमें ऊपर-ऊपर अनेक विरोध देखने को मिलते हैं। कई बार तो प्राचीन काल के बड़े-बड़े ऋषि भी उपनिषदों में निहित अपूर्व समन्वय को नहीं समझ सके। बहुधा मुनियों ने भी आपस के मतभेद के कारण विवाद किया है। ... उपनिषदों के मंत्रों में गूढ़ रूप से जो समन्वय छिपा हुआ है, उसकी विशद व्याख्या और प्रचार की सभी को आवश्यकता है – चाहे कोई द्वैतवादी हो, या विशिष्टाद्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी – उसे संसार के सामने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से रखना... चाहिए। मुझे ईश्वर की कृपा से इस प्रकार के एक महापुरुष के चरणों-तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का महा-सौभाग्य मिला था, जिनका सम्पूर्ण जीवन ही उपनिषदों का महा-समन्वय-स्वरूप था – जिनका जीवन उनके उपदेशों की अपेक्षा हजार गुना बढ़कर उपनिषदों का जीवन्त भाष्य-स्वरूप था। उन्हें देखने पर ऐसा प्रतीत होता, मानो उपनिषद् के भाव ही वस्तुत: मानव-रूप धारण करके प्रकट हुए हों। उस समन्वय का कुछ अंश शायद मुझे भी मिला है। मैं नहीं जानता कि इसको प्रकट करने में मैं समर्थ हो सकूँगा या नहीं। परन्तु मेरा प्रयत्न यही है। मैं अपने जीवन में यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि वेदान्तिक सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु वे एक दूसरे के आवश्यक अंग है, एक दूसरे के परिपूरक हैं, वे एक से दूसरे पर पहुँचने के सोपान हैं, जब तक कि वह अद्वैत – **तत्त्वमसि** – लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।[१५]

(प्रश्न – यदि यही सत्य हो, तो पहले के किसी महान् आचार्य द्वारा ऐसा क्यों नहीं कहा गया?) क्योंकि मेरा जन्म इसी के लिये हुआ है और इसे मेरे द्वारा ही घोषित होना था।[१६]

आत्मज्ञान से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है, बाकी जो कुछ है, सब माया है – जादू है। आत्मा ही एकमात्र ध्रुव सत्य है। मैं इस बात की सत्यता ठीक-ठीक समझ गया हूँ। इसीलिए तुम लोगों को समझाने की चेष्टा भी करता हूँ।[१७]

यदि हमारे यहाँ कोई ऐसा हिन्दू बालक हो, जो यह विश्वास करने के लिए राजी न हो कि हमारा धर्म पूर्णत: आध्यात्मिक है, तो मैं उसे हिन्दू मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे याद है, एक बार मैंने काश्मीर राज्य के किसी गाँव में एक वृद्ध औरत से बातचीत के दौरान पूछा था, "तुम किस धर्म को मानती हो?" इस पर वृद्धा ने तत्काल उत्तर दिया था, "प्रभु को धन्यवाद कि उसकी कृपा से मैं मुसलमान हूँ।" इसके बाद किसी हिन्दू से भी यही प्रश्न पूछा, तो उसने साधारण ढंग से कह दिया, "मैं हिन्दू हूँ।" कठोपनिषद् का वह महावाक्य स्मरण आता है – 'श्रद्धा' या अद्भुत विश्वास। ... इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। ... तुम चाहे किसी भी दार्शनिक मत का आश्रय क्यों न लो, मैं यहाँ केवल यही प्रमाणित करना चाहता हूँ कि सारे भारत में मानव-जाति की पूर्णता में अनन्त विश्वास रूप प्रेमसूत्र ओतप्रोत भाव से विद्यमान है। मैं चाहता हूँ कि इस विश्वास का सारे भारत में प्रचार हो।[१८]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. २९७-९९; **२.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. २०७; विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३३१; **३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५५-५६; **४.** वही, खण्ड ५, पृ. २५९; **५.** वही, खण्ड ५, पृ. २७२; **६.** वही, खण्ड ५, पृ. १२०-२१; **७.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 2, P. 232; **८.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. १५०; **९.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ.२९; **१०.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Advaita Ashrama, 1999, Vol 4, P. 142; **११.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. २०९; **१२.** वही, खण्ड २, पृ. २४९; **१३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३७-३८; **१४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८७-८८; **१५.** वही, खण्ड ५, पृ. २१५; **१६.** The Master as I saw Him, पृ. २०१; **१७.** वही, खण्ड ६, पृ. ७१; **१८.** वही, खण्ड ५, पृ. ३३४-३५
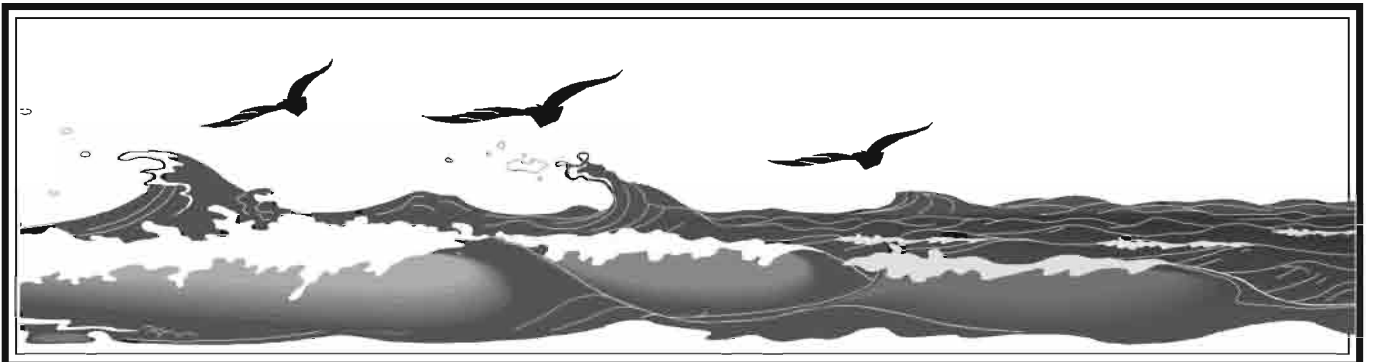
धर्म-जीवन का रहस्य (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने । – सं.)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। ४/७-८

– "हे अर्जुन, जब-जब जगत् से धर्म का लोप और अधर्म का प्राबल्य होने लगता है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ । भले लोगों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में आविर्भूत होता हूँ ।"

श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने अभी 'गीता' के श्लोकों के माध्यम से 'धर्म' के जिस स्वरूप की ओर संकेत किया, 'राम-चरित-मानस' में भी उन्हीं श्लोकों का अनुवाद-जैसा मिलता है । जब पार्वतीजी ने भगवान शंकर से प्रश्न किया कि भगवान का अवतार क्यों होता है? तो इसके उत्तर में मानो उन्होंने गीता के वाक्यों को ही दुहराते हुए कहा था –

जब जब होई धरम कै हानी ।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी ।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा ।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जह बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ।।१/१२१

गीता के दो श्लोकों में जो सूत्र के रूप में कहा गया है, भगवान शंकर ने उसी में कुछ विस्तार कर दिया है । हमारे धर्म की मान्यता है कि भगवान भिन्न-भिन्न समयों में विविध रूपों में बारम्बार अवतार लेते रहते हैं । पुराणों में चौबीस अवतारों की चर्चा हुई है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि चौबीस की संख्या का तात्पर्य यह न ले लिया जाय कि केवल उनते ही रूपों में भगवान का अवतार होता है । श्रीमद्-भागवत में यह भी कह दिया गया है कि अवतार असंख्य हैं – **अवताराः ह्यसंख्येयाः** । वस्तुत: भगवान के अवतारों की गणना नहीं हो सकती । कहीं दस अवतारों का वर्णन हुआ है, कहीं चौबीस अवतारों का वर्णन हुआ है और उस श्लोक के माध्यम से भगवान के असंख्य अवतारों की ओर संकेत किया गया । सचमुच भगवान का अवतरण तो विविध रूपों में हुए हैं और होते रहते हैं । भगवान श्रीरामकृष्ण के रूप में भी वही अवतार विश्व के समक्ष व्यक्त हुआ है ।

पार्वतीजी ने भगवान शंकर के समक्ष प्रश्न रखा कि अवतार की आवश्यकता क्यों है? भगवान के लिये क्या किसी व्यक्ति के रूप में अवतार लेना आवश्यक है? यदि किसी असुर या अत्याचारी का वध करना है, तो क्या वे अपने संकल्प से उसका विनाश नहीं कर सकते? जो कार्य संकल्प मात्र से पूरा हो सकता है, उसके लिये उन्हें मनुष्य शरीर ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है?

परन्तु यह जरूरी नहीं कि हर अवतार के द्वारा केवल वध का कार्य ही सम्पन्न हो । प्रत्येक अवतार की अपनी-अपनी भूमिका है । अवतारों की परम्परा में कपिलदेव, भगवान बुद्ध तथा भगवान श्रीरामकृष्ण भी हैं; जिनमें इस तरह के वध की प्रक्रिया नहीं दिख पड़ती । पर उनकी भूमिकाएँ आवश्यकता के अनुरूप होती हैं । पर मूल प्रश्न तो वही है कि ईश्वर अवतार क्यों लेता है? गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है, उस समय धर्म तथा साधुओं की रक्षा करने के लिये मैं अवतार लेता हूँ । गीता में जो संक्षेप में कहा गया, 'मानस' में उसी को और भी स्पष्ट शब्दों में विस्तार से प्रस्तुत किया गया है ।

आपके समक्ष पहले मैं वह थोड़ी भूमिका रखूँगा और तब कुछ पंक्तियों को केन्द्र बनाकर विस्तार से चर्चा होगी । चित्रकूट में एक असमंजस की स्थिति बनी हुई है । गुरु वशिष्ठ तथा महर्षि विश्वामित्र वहाँ पधारते हैं । फिर चित्रकूट में पहले से ही महात्माओं का एक बड़ा समूह है । भगवान श्रीराम भी सीताजी तथा लक्ष्मणजी के साथ चित्रकूट में ही विराजमान हैं । भरत भी सारे समाज के साथ चित्रकूट में आये हुए हैं । लोगों को लगता है कि वे प्रभु को लौटाने आये हैं । फिर तत्त्वज्ञ-शिरोमणि महाराज जनक भी इस समाचार को सुनकर चित्रकूट में पधारते हैं । इस प्रकार उस काल के अधिकांश महानतम पुरुष वहाँ एकत्र हैं । उस समय इन महापुरुषों में इस समस्या को लेकर जो चर्चाएँ हुईं, वह पूरा-का-पूरा प्रसंग बड़ा ही अद्भुत और अनोखा है । इन महापुरुषों के समक्ष

असमंजस की मन:स्थिति बनी हुई है, प्रश्न था कि इस स्थिति में क्या होना चाहिये, क्या उपयुक्त होगा? भगवान राम गुरु वशिष्ठ से मिलते हैं और उनके समक्ष समस्या का एक पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उसके पश्चात् गुरु वशिष्ठ श्रीराम को विदा करके महाराज श्री जनक के पास एकान्त में जाते हैं और उनसे कहते हैं कि आप इस भूमि में पधारे हैं, यहाँ जो प्रश्न है, जो असमंजस की स्थिति है, मैं समझता हूँ कि इसका समाधान करनेवाला आपसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। गुरु वशिष्ठ ने महाराज जनक से एक वाक्य कहा – महाराज, अब आप ऐसा कुछ उपाय कीजिये कि सबका धर्म के साथ हित हो –

महाराज अब कीजिअ सोई।
सब कर धरम सहित हित होई ।। २/२९१/८

वाक्य तो बड़ा छोटा-सा है, पर इसमें निहित संकेत बड़ा ही व्यापक है। अवतारवाद की भूमिका के लिये भी वह महत्त्वपूर्ण है और वह संकेत-सूत्र है – 'धर्म' और वशिष्ठजी ने उसके साथ एक शब्द और जोड़ दिया – 'सबका धर्म'। आप कुछ ऐसा कीजिये कि सबके धर्म की रक्षा हो और साथ ही एक शब्द और कहा – धर्म के साथ 'हित' भी हो। इसमें प्रत्येक शब्द बड़े महत्त्व का है।

वस्तुत: **'धर्म' शब्द अपने आपमें बड़ा ही विवादास्पद 'शब्द' है**। जितने वन्दनीय रूप में धर्म शब्द का स्मरण किया जाता है, कुछ लोग धर्म शब्द को उतनी ही अवहेलना की दृष्टि से भी देखते हैं। कई लोगों को ऐसा लगता है कि शायद धर्म ही समस्त झगड़ों तथा अनर्थों की जड़ है। धर्म को लेकर लोगों ने चिन्तन किया है, उसके विरुद्ध तर्क दिये हैं, दृष्टान्त दिये हैं, वे यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि धर्म के द्वारा आज तक विश्व में क्या-क्या हुआ है और इसीलिये उनको एक यही समाधान सूझता है कि लोगों में धर्म-विषयक मान्यता तथा आस्था को यदि किसी तरह मिटाया जा सके, तो समाज बुराइयों से मुक्त हो जायेगा।

एक ओर तो हमारे शास्त्रों ने धर्म के प्रति आस्था, श्रद्धा तथा उसकी महिमा का जो गायन किया, उसके विरुद्ध बोलने वाले लोग विचारक भी हैं और बुद्धिमान भी। धर्म के विरुद्ध तर्क विश्व के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। पहले भी कभी-कभी यह प्रश्न किया गया। महाभारत से आप सभी परिचित हैं, पर पूरे ग्रन्थ का पठन सम्भवत: बहुत कम लोगों ने किया होगा। उसमें भी एक प्रसंग आता है, जहाँ महारानी द्रौपदी ने धर्म के विरुद्ध तर्क किया है। जब पाण्डव वनवास की स्थिति में निवास कर रहे थे। द्रौपदी भी उनके साथ में थीं। महाराज युधिष्ठिर उस त्रेता युग के मापदण्ड से धर्म के समर्थक ही नहीं, बल्कि धर्मराज ही माने जाते थे। वे धर्म के पक्षधर भी थे और लगता है कि उन्होंने धर्म के लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट भी उठाया। ऐसी स्थिति में स्वभावत: जब उनके साथ इतना अन्याय हुआ, पाण्डवों तथा द्रौपदी को भी बड़ा कष्ट भोगना पड़ रहा था; तो भी वार्तलाप के समय महाराज युधिष्ठिर धर्म की ही दुहाई देते हैं कि धर्म पर अडिग रहना चाहिये, धर्म में व्यक्ति की आस्था अविचल रहनी चाहिये।

द्रौपदी बड़ी तेजस्विनी स्वभाव की देवी हैं। उनके चरित्र में शील-पक्ष की अपेक्षा तेज तत्त्व की प्रबलता है। वे न तो सरलता से किसी को क्षमा करती हैं और न कोई बात अप्रिय लगने पर, उसे सह पाती हैं। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से तर्क करते हुए कहा, ''आप जिस धर्म की इतनी दुहाई देते हैं, जब देखिये तब – धर्म, धर्म, धर्म – कहते रहते हैं, जरा यह बताइये कि उस धर्म ने आपको क्या दिया? दुर्योधन अधर्म कर रहा है और बड़े मजे से राज्य कर रहा है, सारी प्रजा पर शासन कर रहा है, महलों में निवास कर रहा है; दूसरी ओर आपको बाल्यावस्था से ही कभी लक्षागृह में जलने की स्थिति आ गई और वहाँ से प्राण बचाकर भागना पड़ा, कभी छिपकर रहना पड़ा और अब आप बारह वर्ष के लिये वनवासी बने हुए हैं। इस धर्म का क्या अर्थ है? मैं नहीं मानती कि धर्म में सचमुच ऐसी स्थिति है। यदि ऐसा होता, तो दुर्योधन कष्ट में होता और आप सुखी होते।'' इन विस्तृत तर्कों को पढ़कर लगता है कि बात सचमुच सही है। यह किसी एक युग की बात नहीं है, हर युग में हर तर्क किसी-न-किसी व्यक्ति के मन में आता है। आज भी उसे बड़े व्यापक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उस समय महाराज युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिये, वे उत्तर अपने स्थान पर थे।

यदि हम 'मानस' के सन्दर्भ में इस प्रश्न को देखें, तो वहाँ इसको बड़े ही मनोवैज्ञानिक तथा एक ऐसी पद्धति से प्रस्तुत किया गया है कि उसे ठीक से समझा तथा जीवन में स्वीकार किया जा सके। पहली समस्या तो समझनेवाले की है। समझनेवाले बड़े अल्प होते हैं और फिर समझने के बाद समझानेवालों की संख्या भी अधिक नहीं होती। समझनेवालों में भी उसे जीवन में उतारनेवालों की संख्या तो और भी कम होती है। 'मानस' को आप उसी अर्थ में देखें और वहाँ इस प्रश्न को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उस पर दृष्टि डालें। यह आश्रम ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी द्वारा अध्यात्म-साधना की भूमि बन चुका है और आज इस आश्रम में जो एक अजस्र धारा बह रही है, आप निरन्तर सुनते हैं, इसलिये मुझे विश्वास है कि आप मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठकर सुनने और ग्रहण करने की कृपा करेंगे।

धर्म के सन्दर्भ में 'मानस' का पहला विलक्षण सूत्र यह है कि हम धर्म का क्या अर्थ लें? और किसे धर्मात्मा मानें? इसी प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार कीजिये कि युधिष्ठिर ने जो बारह वर्ष वनवास का कष्ट भोगा, क्या वह धर्म के कारण

भोगा? उन्होंने धर्म की रक्षा के लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाया। उन्होंने जो वचन दिया, उसकी रक्षा के लिये कष्ट उठाया और धर्म के सन्दर्भ में सत्य को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वेदों, शास्त्रों और रामायण में – सर्वत्र कहा गया –

धरमु न दूसर सत्य समाना ।। २/९५/५

पर गहराई से विचार करके देखें कि युधिष्ठर को जो कष्ट हुआ, उसके मूल में क्या केवल धर्म ही था? सत्य की रक्षा के लिये और सत्य के रूप में धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने त्याग किया, कष्ट उठाया – यह बिल्कुल ठीक है। सचमुच ऐसा करना बहुतों के लिये असम्भव-सा है। पर प्रश्न यह है कि जब उन्होंने जूआ खेला, वह भी क्या धर्म का ही अंग था? परम बुद्धिमान होते हुए भी उन्होंने धर्म का एक अर्थ यह भी लिया कि यदि किसी क्षत्रिय को युद्ध करने या जूआ खेलने के लिये चुनौती दी जाय, तो उसे स्वीकार करना ही धर्म है। इसी मान्यता के अनुसार जब उन्हें जूए का निमंत्रण दिया गया, तो यह समझकर कि यह मेरा क्षत्रिय-धर्म है, उन्होंने उसे स्वीकार किया। फिर जूए में वे जिस प्रकार दाँव-पर-दाँव लगाते गये, क्या वह भी धर्म का ही अंग था? जूआ खेलना ही अनिवार्य नहीं है, फिर वे दाँव-पर-दाँव लगाते हुए पाँचों भाइयों को और अन्त में द्रौपदी को भी दाँव पर लगा देते हैं। इसके बाद द्रौपदी की ऐसी स्थिति कर दी गई कि उसे खींचकर सभा में लाया गया। पाँचों पाण्डव वहाँ बैठे हुए हैं और मानते हैं कि हम दास के रूप में हैं। तो भी अर्जुन और भीम उत्तेजित होते हैं; युधिष्ठिर उन्हें रोक देते हैं। वे युधिष्ठिर का अनुशासन मान लेते हैं।

उस समय द्रौपदी ने एक प्रश्न किया था, जो बड़े महत्त्व का था। उसने पूछा – मैं यह जानना चाहती हूँ कि जब महाराज युधिष्ठिर पहले स्वयं को हार चुके थे, तो उसके बाद मुझे हारने का अधिकार उन्हें था क्या? इस प्रश्न का उत्तर किसी ने नहीं दिया। भीष्म जैसे व्यक्ति भी ऐसी मन:स्थिति में पड़ गये और कहने लगे कि प्रश्न बड़ा जटिल है, क्योंकि एक ओर तो स्वयं हारने के बाद उन्हें दूसरे को हारने का अधिकार नहीं रहा, परन्तु पत्नी तो पति से अभिन्न है, अत: उसका निरन्तर अधिकार है, इसलिये उसका अधिकार भी माना जा सकता है। वे चुप हो जाते हैं।

इस प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है कि 'धर्म' बड़े महत्त्व का शब्द है, पर उसके साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि वस्तुत: धर्म है क्या? और जब हम युधिष्ठिर के समान कुछ ऐसी मान्यताओं को धर्म से सम्बद्ध कर दें, जिसका अन्तिम परिणाम महान संहार और महान विनाश के रूप में हुआ, तो प्रश्न जटिल हो उठता है कि आखिर यह धर्म है क्या? यह बात अलग है कि सर्वत्र और महाभारत में भी कहा गया – 'जहाँ धर्म है, वहीं विजय भी है' और 'रक्षा किया गया धर्म रक्षक का कार्य करता है' –

यतो धर्मस्ततो जय: ।। ... धर्मो रक्षति रक्षित: ।।

पर धर्म है क्या? यह प्रश्न महाभारत में भी उठाया गया है और बताया गया है – धर्म का तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है –

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।।

जब 'धर्म' शब्द की निन्दा या आलोचना होती है, तो दुर्भाग्यवश प्राय: आलोचना करनेवाला व्यक्ति कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों या घटनाओं से ही धर्म की व्याख्या को जोड़ लेता है। राम-चरित-मानस में धर्म को बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। अब हम वहीं से प्रारम्भ करते हैं।

रामायण के ये दो परस्पर-विरोधी पात्र हैं – दशमुख और दशरथ। भगवान दशमुख का वध करने के लिये आये, पर उनका प्रादुर्भाव दशरथ के घर में हुआ। गोस्वामीजी ने एक बड़े अनोखे सूत्र के रूप में पहले इन दोनों महापुरुषों के पूर्व जन्म का परिचय दिया है। उस सूत्र पर गहराई से विचार कीजिये। वहाँ भी 'धर्म' शब्द की व्याख्या है।

राजा प्रतापभानु दशमुख बना और महाराज मनु दशरथ बने। बड़ी अनोखी बात यह है कि चरित्र की दृष्टि से प्रताप-भानु भी एक महान धर्मपरायण राजा है। प्रतापभानु इतना धर्मपालक था कि उसके राज्य में धर्म चारों चरण (सत्य, पवित्रता, दया तथा दान) में विद्यमान दिखता था। दूसरी ओर महाराज मनु तो धर्म के महानतम व्याख्याता भी हैं, धर्म के आचार्य और स्मृति के निर्माता भी हैं। दोनों में मूल तो धर्म ही है। मनु धर्म के व्याख्याता, रक्षक, पालक और नियामक हैं; और प्रतापभानु के वर्णन में भी कहा गया – उसका बल पाकर भूमि कामधेनु के समान हो गयी। प्रजा हर तरह के दु:खों से रहित तथा सुखी थी। सभी नर-नारी सुन्दर तथा धर्मशील थे। उसके मंत्री का नाम भी धर्मरुचि था –

भूप प्रतापभानु बल पाई ।
कामधेनु भै भूमि सुहाई ।।
सब दु:ख बरजित प्रजा सुखारी ।
धरमसील सुन्दर नर नारी ।।
सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती ।। १/१५५/१-३

दूसरी ओर रामराज्य के वर्णन में है – धर्म अपने चारों चरणों से जगत् में व्याप्त है, सपने में भी पाप नहीं है –

चारिउ चरन धर्म जग माहीं ।
पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ।। ७/२१/३

प्रतापभानु के राज्य का वर्णन पढ़कर सन्देह होता है कि यह कहीं रामराज्य का ही वर्णन तो नहीं है। बिल्कुल मिलता हुआ-सा ही वर्णन है। पर, उसी में एक बहुत बड़ा सूत्र है। ऐसा धर्मपरायण व्यक्ति भी दशमुख बन सकता है। धर्मपरायण व्यक्ति दशरथ बन सकता है और दशमुख भी बन सकता है।

आज भी जब लोग प्रतापभानु का प्रसंग पढ़ते हैं, तो यह

बात उनकी समझ में नहीं आती कि प्रतापभानु में ऐसी क्या भूल थी कि उस बेचारे को इतना बड़ा दण्ड भोगना पड़ा। पर आप जरा गहराई के साथ धर्म के स्वरूप पर विचार कीजिये। दोनों के चरित्र में कहीं-न-कहीं धर्म की मान्यता, धारणा तथा उद्देश्य को लेकर कोई भेद रहा होगा। इस पर विचार करने से हमें अपने जीवन-दर्शन के अनेक सूत्र मिल जायेंगे। एक सूत्र अवतार के पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाराज मनु ने धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया। उस युग की, धर्मशास्त्र तथा रामायण की मान्यता थी कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी होती है वह नरक का अधिकारी होता है।... वह राजा शोक करने योग्य है, जिसको प्रजा प्राण के समान प्रिय नहीं लगती है –

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ।। २/७१/६
सोचिये नृपति जो नीति न जाना ।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ।। २/१७२/४

महाराज मनु ने इस आदर्श को क्रियान्वित और साकार किया। वहाँ भी दो सूत्र ध्यान देने योग्य हैं। धर्म का एक वैयक्तिक पक्ष है और दूसरा है सामाजिक। धर्म के सन्दर्भ में कुछ मान्यताएँ हैं, जिन्हें धर्म कहा जाता है। जो व्यक्ति उन मान्यताओं या धारणाओं को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करे और उतार ले, वह धर्मात्मा कहलाता है। एक सूत्र तो यह वैयक्तिक धर्म हुआ और दूसरा सूत्र यह है कि व्यक्ति दूसरे रूप में समाज का भी एक अंग है। अब प्रश्न उठता है कि धर्म 'व्यक्ति' के हित के लिये है या 'समाज' के कल्याण के लिये? यदि व्यक्ति और समाज के कल्याण में कोई तालमेल नहीं है, तो उसे हम धर्म मानें या न मानें? गोस्वामीजी ने जनता को इतनी महिमा दी कि उसे राजा के प्राण के समान प्रिय कहा और दूसरी ओर दोहावली रामायण में यह भी कह दिया – जनता तो भेड़ों की धसान जैसी है, एक भेड़ जिधर चली, तो सभी भेड़ें उसके पीछे-पीछे चल पड़ीं –

तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान ।। ४९४

चाहे पुरातन युग हो, या वर्तमान युग – प्रत्येक युग में सर्वत्र यह परिवर्तन दिखाई देता है। जनता किसको सम्मान देगी और किसका अपमान करेगी, यह निश्चित नहीं है और वह चित्र हनुमानजी के माध्यम से प्रकट ही कर दिया गया है। हनुमानजी को रावण की सभा में चोर की तरह पकड़ कर लाया गया। उन्होंने बिना पूछे रावण की वाटिका का फल खा लिया, तो यह चोरी हुई। रावण राजा है। उसका कर्तव्य है कि वह चोर को दण्ड दे। उसने एक न्यायाधीश की तरह मेघनाद से कहा, "मैं ऐसा अन्याय नहीं करूँगा कि तुम जाकर उसे मार डालो, तुम उसे पकड़कर लाओ। मैं उसे अवसर दूँगा।" रावण भी न्याय-अन्याय की बात करता है। बोला – उसे अवसर दिया जाना चाहिये कि वह अपनी बात कहे। उसे अपने पुत्र के पौरुष पर विश्वास था कि वह किसी को भी मार सकता है, पर मैं बन्दर को जीवित दशा में देखना चाहता हूँ। इसलिये उसने मेघनाद को आदेश दिया – पुत्र, उसे मारना मत, बल्कि बाँधकर लाना –

मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही ।
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही ।। ५/१९/२

हनुमानजी को रावण की सभा में लाकर खड़े किये गये। न्यायाधीश की तरह रावण ने उनसे पूछा – "तुमने वाटिका के फल क्यों खाये? फिर तुमने बाग को क्यों उजाड़ा? तुमने मेरी सेना को क्यों मारा? मेरे पुत्र का वध क्यों किया?"

रावण के प्रश्न अपने आप में बिलकुल सही हैं। सचमुच हनुमानजी ने वाटिका के फल भी खाये हैं, उसके बाद बाग भी उजाड़ दिया है, रक्षकों को तथा रावण के पुत्र को भी मार डाला है। यदि कोई इसे सन्दर्भ से अलग करके देखे, तो हनुमानजी के कार्य तो सरासर अनुचित दिखाई देंगे।

शास्त्र भी यही कहता है कि दूसरे की वस्तु को बिना पूछे नहीं लेना चाहिये। पुराणों में यहाँ तक दृष्टान्त दिया गया कि शंख तथा लिखित दो सगे भाई महात्मा थे। एक भाई दूसरे भाई के आश्रम में गये। उस समय उस आश्रम के महात्मा वहाँ नहीं थे। आये हुए महात्मा भूखे थे। वहाँ आम के वृक्ष में फल लगे हुए थे। उन्होंने एक फल तोड़कर खा लिया। कुछ देर बाद आश्रम के महात्मा आये, तो भाई का स्वागत करने के साथ-साथ जब उन्होंने देखा कि आम का लटका हुआ फल दिखाई नहीं दे रहा है। उन्होंने पूछा – आम का फल कहाँ गया? बोले – मैंने तोड़कर खा लिया। – मुझसे बिना पूछे क्यों तोड़ा और क्यों खाया? यह तो चोरी है।

उन्होंने इसको चोरी के रूप में देखा और कहा कि तुम्हें इसका दण्ड भोगना चाहिये। दण्ड-विषयक उनकी मान्यता इतनी कठोर थी कि बोले – दण्ड देने का कार्य मैं तो नहीं करूँगा, परन्तु तुम स्वयं राजा के पास जाकर दण्ड की याचना करो। दूसरे महात्मा भी इतने दृढ़ थे कि वे राजा के पास गये और कहा कि मैंने चोरी की है, हमारे भाई ने ऐसा माना है कि मैंने बिना पूछे फल खा लिया, तो यह चोरी है, मुझे दण्ड मिलना चाहिये।

राजा बड़े संकोच में पड़ गये। मात्र एक फल के लिये; और फिर ये भाई और महात्मा हैं – क्या करें कुछ समझ में नहीं आ रहा है ! उन्होंने स्वयं राजा से कहा कि इस चोरी के दण्ड के रूप में मेरा एक हाथ काट दिया जाय और स्वयं ही हाथ कटवाने के लिये प्रस्तुत हो गये। हाथ काटा भी गया। उसके बाद, शास्त्र की जैसी परम्परा है कि उनके उस कार्य की दिव्यता के कारण उसके भाई प्रसन्न हो गये और उनके हाथ फिर निकल आये। इस पक्ष का कितना कठिन मापदण्ड

हो सकता है, जो शंख-लिखित की कथा में आता है।

ऐसी स्थिति में हनुमानजी ने जो कार्य किया, उससे तो यही लगता है कि वे मर्यादा की सीमाएँ लाँघते ही चले गये थे। बिना पूछे फल खा लिये; बाग उजाड़ दिया; वृक्षों को भी उखाड़ दिया; सेना और सेनापति आये तो उन्हें मार दिया और रावण का पुत्र आया, तो उसे भी मार दिया। इसके बाद वे चोर की तरह बन्दी बनाकर रावण की सभा में ले आये गये। फिर इसकी पराकाष्ठा तो तब हुई, जब वे लौटते समय पूरे नगर को भी फूँककर चले आये। उनके इन सारे कार्यों को क्या कहा जाय – धर्म या अधर्म?

यहाँ रामायण की क्या दृष्टि है? रावण के प्रश्नों के उत्तर में हनुमानजी ने जो उत्तर दिये, वे बहिरंग दृष्टि से तो बड़े लचर लगते हैं। बोले – मुझे भूख लगी हुई थी और तुम्हारे वाटिका में फल देखा, तो मैंने खा लिये। – अच्छा, बाग क्यों उजाड़ दिया? बोले – बन्दर का स्वभाव है, इसलिये मैंने बाग को उजाड़ दिया। पूछा – तुमने राक्षसों को क्यों मार डाला? बोले – जिन्होंने मुझे मारा, उनको मैंने मारा –

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा।
कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा।।
मारेसि निसिचर केहिं अपराधा।
जिन्ह मोहि मारे ते मैं मारे।। ५/२२/३-५

और साथ ही चेतावनी भी दे दी – यहाँ तक तो सारे उत्तर हो गये, पर एक अपराध तुम्हारी ओर से हुआ है। – क्या? बोले – इसके बाद तुम्हारा पुत्र व्यर्थ ही बाँधकर मुझे ले आया है, लेकिन इस अपराध का निर्णय बाद में होगा –

तेहि पर बाँधेऊँ तनयँ तुम्हारे।। ५/२२/५

क्या निर्णय हुआ? उन्होंने लंका को ही जलाकर भस्म कर दिया। तो क्या हनुमानजी का यह कार्य औचित्यपूर्ण है?

रावण के प्रश्नों के अनौचित्य पर जरा अन्तरंग दृष्टि से विचार कीजिये। हम और आप – सभी लोग अपने जीवन में द्विविध-मुख हैं। हम लोग भी बहुधा धर्म की दुहाई तो देते हैं, पर धर्म की दुहाई कहाँ से प्रारम्भ होती है?

एक उदाहरण लेते हैं। मान लीजिये कि बीस डाकू मिल कर कहीं डाका डालते हैं, हत्याएँ करते हैं और धन लूटकर ले आते हैं; परन्तु जब वे उसे बाँटने बैठते हैं, तो कहते हैं कि बँटवारा ईमानदारी से होना चाहिये। डाका डालिये बेइमानी से और बँटवारा कीजिये ईमानदारी से – यह कैसा विचित्र मापदण्ड है? हम लोग धर्म को वहीं से प्रारम्भ करते हैं, जहाँ से हमारे स्वार्थ की सीमा शुरू होती है।

रावण को क्या सचमुच ये प्रश्न करने का अधिकार था? – नहीं था। – क्यों? वह हनुमानजी से पूछता है कि तुमने बिना पूछे वाटिका के फल कैसे खा लिये? यह तो चोरी है। पर यह प्रश्न कौन-सा व्यक्ति कर रहा है? रावण जिस लंका के सिंहासन पर बैठा हुआ है, वह किसकी थी? – उसके बड़े भाई कुबेर की। अब आप जरा सोचिये कि जिसने इतना बड़ा चार सौ कोस की स्वर्णमयी नगरी अपने भाई से छीन ली हो और उसके सिंहासन पर बैठ गया हो, जो व्यक्ति संसार की हजारों सुन्दरी स्त्रियों को छीनकर, अपहरण करके, जीत करके बलात् महल में ले आया हो।

देव जच्छ गंधर्व नर किंन्नर नाग कुमारि।
जीति बरी निज बाहुबल बहु सुन्दरि बर नारि।।

जिसने चोरी की हो, डाका डाला हो, दूसरे की सम्पत्ति छीन ली हो, बड़े भाई की सम्पत्ति पर जिसने जबरन अधिकार कर लिया हो। सुन्दरी स्त्रियों को जिसने बलपूर्वक अपने महल में लाकर उन्हें विवाह करने के लिये बाध्य किया हो। और पराकाष्ठा तो यह है कि जो जगज्जननी सीताजी को भी चुराकर ले आये और वह न्याय के सिंहासन पर बैठकर फल खानेवाले बन्दर से पूछे – "तुमने फल क्यों खा लिये? यह तो धर्म के विरुद्ध हुआ।"

तो यहाँ मूल सूत्र यह है कि धर्म का श्रीगणेश केवल दूसरों से नहीं, अपने आप से कीजिये। जिस कसौटी पर हम दूसरों को कसना चाहते हैं, उस पर पहले हम स्वयं को कस लें, तब दूसरे को कसने की बात करें। यह पहली बात है, जिसे जीवन में लाना होगा, वरना यह दोहरा मापदण्ड तो जीवन में पग-पग पर दिखाई देता है।

किसी ने मुझसे पूछा – वाल्मीकि रामायण को पढ़कर लगता है, श्रीराम बड़े न्यायप्रिय और मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और तुलसीदास के ग्रन्थों को पढ़कर लगता है कि वे बड़े दयालु हैं, आपकी धारणा क्या है? मैंने कहा कि श्रीराम में दोनों ही बातें है। एक पक्ष यह है कि वे मर्यादामय है और दूसरा पक्ष है कि वे दयालु हैं। पर साथ ही विनोद में मैंने यह भी कहा कि हम सबमें ये दोनों गुण विद्यमान हैं, सबमें मर्यादा है और सबमें दया है। अन्तर केवल इतना ही है कि भगवान राम दूसरों के लिये दयालु और अपने लिये मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। परन्तु हम अपने लिये दयालु है और दूसरों के लिये मर्यादा-पुरुषोत्तम! अन्तर तो बस इतना ही है! ❖ **(क्रमशः)** ❖

कर्तव्य पालन क्यों?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य और पशु में एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य में बोध होता है, जबकि पशु में नहीं। वैसे तो ज्ञान पशु को भी होता है, पर ज्ञान और बोध में अन्तर है। एक पश्चिमी विद्वान् ने पशु और मनुष्य का अन्तर बताते हुए कहा है - "An animal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." - अर्थात् ''पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।'' अर्थात् मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, जबकि पशु को ऐसा नहीं होता। मनुष्य की यही क्षमता उसको पशु से भिन्न करती है। एक संस्कृत सुभाषित में मनुष्य और पशु के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ।।

– ''भोजन, नींद, भय और प्रजनन की प्रवृत्ति – ये पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। एक 'धर्म' का तत्त्व मनुष्यों में अधिक होता है, वह यदि मनुष्य में न हो, तो वह पशु के ही समान है।''

इस सुभाषित में धर्म को मनुष्य और पशु में अन्तर करनेवाला तत्त्व बतलाया गया। इसी धर्म को हमने पूर्व में बोध कहा है। इसको कर्तव्य-बोध भी कहते हैं। अर्थात् धर्म वह है, जो मनुष्य में कर्तव्य-बोध भरता है। पशु में कोई कर्तव्य-बोध नहीं होता, वह तो अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता जब अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए चोर पर झपट पड़ता है, तो वह कर्तव्य-बोध से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करता, अपितु अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित हो ऐसा करता है, जिसे हम अंग्रेजी में instinct कहते हैं। कर्तव्य-बोध की क्षमता मनुष्य में ही होती है। इसीलिए वह पुरस्कार पाने का भी अधिकारी होता है और दण्ड पाने का भी। पर कभी किसी ने अपने मालिक को बचानेवाले कुत्ते को पुरस्कार देकर सम्मानित नहीं किया।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इसलिए करना चाहिए कि यही मनुष्य की मनुष्यता को उजागर करता है। वैसे तो पशु-भाव केवल पशु का ही गुण नहीं, वह मनुष्य में भी भरा होता है, पर मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि अपने भीतर का पशु-भाव दूर कर मानवता को जगाया जाय। इस प्रक्रिया में, एक सक्षम साधन के रूप में कर्तव्य-बोध ही सामने आता है, जिसे पूर्व में कहे गये सुभाषित में 'धर्म' कहकर पुकारा गया है।

अपने स्वार्थ के लिए जीना पशुता है और दूसरों के लिए जीने की चेष्टा करना मनुष्यता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य भी केवल अपने लिए जिए, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कर्तव्य-बोध हमें दूसरों के लिए जीना सिखाता है। अधिकार-बोध यदि स्वार्थ का द्योतक है, तो कर्तव्य-बोध निःस्वार्थता का। स्वामी विवेकानन्द स्वार्थ को अनैतिक और स्वार्थहीनता को नैतिक बताते हैं। वे कहते हैं – ''निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना ही अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है। और वह यदि स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों में दर्शन किये हों, चाहे सभी तीर्थों का भ्रमण किया हो, चाहे उसने अपने शरीर को चीते के समान रँग लिया हो, तो भी वह शिव से बहुत दूर है।'' यह कर्तव्य-पालन का तात्त्विक आधार है।

फिर, हमें इसलिए भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए कि उससे परिवार, समाज और देश टूटकर बिखरने से बचता है। कल्पना करें कि पिता, माता, सन्तान, शिक्षक, छात्र, अधिकारी, कर्मचारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर – सब अपने अपने कर्तव्यों से कतराने लगें, तो कैसी विश्रृंखला की सृष्टि होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मुझे किसी से कहने का अधिकार नहीं है कि तुम अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? यदि मैं अपनी पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मैं यह कहने का अधिकारी नहीं कि पत्नी अपना कर्तव्य निभाए। सारांश यह कि कर्तव्य-बोध ही जीवन की धुरी है। वह हमारी मनुष्यता को प्रकट कर हमें सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता है। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में जितनी संख्या में ऐसे कर्तव्य-बोध से पूर्ण मनुष्य होते हैं, वह परिवार, वह समाज और वह देश उतनी ही मात्रा में बलवान्, सम्पन्न और सुदृढ़ होता है।

❑❑❑

सारगाछी की स्मृतियाँ (१५)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१४-११-१९५९

महाराज जी के पेट पर छोटी-छोटी फुन्सी जैसी निकली है। लगता है कि दवा की प्रतिक्रिया है। सेवक वहाँ एक मलहम लगाकर मालिस कर रहा है।

महाराज – देखो, व्यर्थ में मुक्का खाकर मर रहा हूँ! जैसा एक संसारी संसार के जाल में फँसकर कष्ट पाता है। वैसे ही हम लोग कहाँ से एक शरीर पाकर कष्ट पा रहे हैं! ऐसे चलो जिससे शरीर के कष्ट से मुक्ति पा सको। सच्ची बात यह है कि शरीर से बाहर नहीं निकलने पर मुक्का खाते-खाते प्राण जायेगा। तुम लोगों में शक्ति है, सामर्थ है, तुमलोगों के द्वारा थोड़े से प्रयास करने से ही हो जायेगा। हमलोगों से तुमलोग लाख गुना श्रेष्ठ हो। देखो, यह शरीर कितना कष्ट दे रहा है ! जब इसे जलाओगे, तब एक डण्डा लेकर जोर से खोंचकर मारना। मैं दूर से खड़ा होकर देखूँगा कि बेटा कैसे जल रहा है !

देखो, तुम घर छोड़कर चले आये हो, तो बच गये। नहीं तो, एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद तुम्हारी पूँछ में हाथ नहीं लगाया जा सकता था। 'मेरा विचार है', इस अहंकार से सब अंधे हैं। विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण हुये लड़के सोचते हैं कि मैं कुछ हूँ ! कोई नया विचार आसानी से लेना नहीं चाहते हैं।

५-१२-१९५९

दो-चार दिन पहले बेलूड़ के बी.टी. कॉलेज से कला विभाग के एक अध्यापक चैतन्यदेव का दो चित्र लेकर आये थे। उन चित्रों को स्वामी सारदेशानन्द जी के द्वारा लिखित पुस्तक में छापा जायेगा। महाराज जी ने उन चित्रों को देखकर बहुत प्रशंसा करते हुये कहा – "हमारे देश में चित्र का कोई महत्व नहीं है। फ्रांस में मेरा एक मित्र चित्र-अंकन के लिए १६,००० रूपये प्राप्त किया था। किन्तु हमारे देश में इसका कोई महत्व नहीं जानता है ! किन्तु जिस प्रकार चैतन्यदेव सुव्यवस्थित रहते थे और उनकी चादर इस प्रकार झुलती रहेगी, ऐसा तो नहीं लगता है, एवं उनके पैर बड़े-बड़े थे।"

१८-१२-१९५९

सेवक – हमलोग इसी जीवन में ही अध्यात्म-रस का आस्वादन करेंगे, इसीलिये हम लोगों ने घर-द्वार छोड़ा है। यदि जीवन्मुक्त नहीं हो सकते, तो क्या यह जीवन त्याग करना उचित है?

महाराज – देखो, जीवनमुक्ति अभी नहीं, वह सब दस वर्ष बाद। अभी सब कुछ अध्ययन करो। महाराज लोगों के जीवन के सम्बन्ध में जानो, संघ-जीवन को देखो, बाद में जो होना है, होगा। उत्तराखण्ड में एक प्रथा प्रचलित है – कोई-कोई साधक इस जीवन में परमात्मा की प्राप्ति असम्भव देखकर स्वेच्छा से शरीर त्याग देता है। वह साधक ईश्वर से प्रार्थना करता है कि अगले जन्म में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये उसे अनुकूल शरीर एवं मन मिले। ऐसा करना भी एक प्रकार से आत्महत्या है।

प्रश्न – जिन लोगों का यह अंतिम जन्म है, वे लोग इस जन्म में जो कुछ भी करेंगे, क्या उन्हें इसी जन्म में उसे भोगना होगा?

महाराज – अवश्य ही, इस जन्म में जो कुछ करेगा, उसे उसका फल भी भोगना होगा, तभी मुक्ति होगी ! इसीलिये तो कहता हूँ कि प्रकृति के नियमों का उल्लंघन मत करो। घर में मेरी माँ कहा करती थी – "दुःखी हय चंडाले शापे। खंडाते नारे विधातार बापे ।।" चंडाल के शाप से भी दुख मिलता है। ब्रह्मा के पिता से भी वह न कटता है।। किसी को कष्ट नहीं देना।

जो लोग कहते हैं – हमारा नहीं होगा, हम पापी हैं, वे लोग पलायनवादी मानसिकता के हैं। वे लोग कुछ नहीं करना चाहते हैं, फाँकी मारना चाहते हैं। और जो व्यक्ति जो कार्य करता है, वह वही चाहता है। अर्थात् उसे अधिक आवश्यकता का बोध नहीं है।

प्रश्न – महाराज जी, यदि हम लोग साधन-भजन न करके पड़े रहें, तो कब हम लोगों की मुक्ति होगी?

महाराज – सकृदागामी। स्वामी श्रद्धानन्द सन् १९३४ ई. में कॉलेज में पढ़ता था। (स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने सेन फ्रान्सिकों में शरीर-त्याग किया था।) मेरे पास बैठकर हँसी-मजाक करता था। एक दिन मैंने बातों ही बातों में कहा – "बन्दर श्रीरामचन्द्र जी के संकल्प-पूर्ति सेतु-निर्माण कार्य में पत्थर ढोकर मुक्त हुये थे।" इस बात से वह इतना मुग्ध हुआ कि बाद में उसने इस पर एक नाटक लिखकर उसका

मंचन किया था। वैसे ही, यदि कोई ठाकुर जिस उद्देश्य से आये थे, उनके उस व्रत में, उनके सेवा कार्य में सहायता करता है, तो वह भी मुक्त होगा।

सेवक – ठाकुरजी का व्रतकार्य – मुख्य उद्देश्य क्या है?

महाराज – प्रेम, सबका मंगल-चिन्तन करना और कैसे उन सबकी सेवा की जाय, "शिवभाव से जीव सेवा" और चारों योग एक हैं, इसे भी जानना। केवल कर्म करने से व्यक्ति बहिर्मुख हो जाता है, केवल ध्यान करते-करते आधा पागल हो जाता है, केवल ज्ञान-विचार करने से विद्वान हो जाता है और केवल भक्ति में भावुक हो जाता है। अत: इन चारों में समन्वय की आवश्यकता है। ज्ञान और योग नहीं रहने से व्यक्ति की शरीर के प्रति आसक्ति हो जाती है। नारायण-भाव दूर में पड़ा रहता है।

दोपहर में महाराज जी बैठ कर चित्रों की पुस्तक देख रहे हैं। जहाँ ठाकुर जी श्रीमाँ सारदा देवी को अलंकार उतारने के लिये मना कर रहे हैं, वहाँ ठाकुर जी को छाया जैसा चित्रांकित किया गया है।

महाराज – देखो, यह चेहरा तो केवल आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह भाव-शरीर है। इसे प्रेम की आँखों से देखा जाता है। इसकी छाया नहीं पड़ती, जिसने यह चित्र अंकित किया है, वह इस बात को नहीं जानता है।

२१-१२-१९५९

प्रात:काल महाराज जी का शरीर बहुत अस्वस्थ है। धूप निकली हुयी है। वे प्रांगण में कुर्सी पर बैठे हुये हैं। सिलेट (बंगलादेश) का भक्त श्रीकान्त ने आकर पूछा, महाराज, ठाकुर जी का ध्यान आँखों के सामने या हृदय में करूँगा?

महाराज – देखा हूँ कि आँखों के सामने ध्यान अच्छा होता है। हाँ, आँखों के सामने ध्यान करना।

शाम को एक अध्यापक आये थे। वे अपने हाथों में पकड़े हुये "विवेकानन्द चरित' पुस्तक को जमीन पर रखकर महाराज जी को प्रणाम किये। उनके चले जाने पर महाराज जी ने कहा – "देखा, उस व्यक्ति ने क्या करामात किया! जैसे, भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र की पुस्तकें हैं, वैसे ही वह स्वामीजी की पुस्तक को भी समझता है।" बाद में फिर उस अध्यापक के साथ भेंट होने पर महाराज जी ने कहा – उस पुस्तक को मेरे सिर पर थोड़ा स्पर्श करा दीजिये। भागवत-भक्त-भगवान हमारे लिये तीनों ही समान हैं। वे सज्जन बहुत ही दुखित हुये एवं उस पुस्तक का महत्व समझ गये।

रात्रि में महाराज जी सोने के लिये जा रहे हैं। उन्होंने कहा – "देखो, गृहस्थ के घर में किसी की मृत्यु हो जाने से वे लोग शोक करते हैं, रोते हैं। साधु मरने से कुछ भी नहीं करता। केवल शरीर को जला देता है। साधुओं ने अपना श्राद्ध कर दिया है। अब इन लोगों का कोई कर्म शेष नहीं है। बहुत लोग सोचते हैं कि १२ दिन बाद भण्डरा, मानो श्राद्ध-भोजन है। लोगों के साथ अधिक मिलने-जुलने से धीरे-धीरे उन लोगों का चाल-चलन अपने जीवन में आ जाता है। अवश्य ही माता-पिता का श्राद्ध ब्रह्मचारी करेगा। माता-पिता क्या कम हैं, क्या उन लोगों के ऋण को चुकाया जा सकता है?

२५-१२-१९५९

महाराज जी का शरीर बहुत ही अस्वस्थ है। महाराज जी एवं सेवक बरामदे में बैठे हैं।

महाराज – स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की दासता से मुक्ति पाने के लिये योगाभ्यास करो। नहीं तो, वृद्धावस्था में समझोगे। यदि मुक्त नहीं भी हो सके, फिर भी प्रतिदिन चिन्तन करते-करते दृढ़ विश्वास होगा, एवं देह का कष्ट दूसरे का कष्ट है, ऐसा विचार करने का प्रयास करने से भी थोड़ी शान्ति पाओगे।

सेवक गीता पाठ कर रहा है।

प्रश्न – गीता में जो 'अहम्', 'मम्' कहा गया है क्या वे सब नैर्व्यक्तिक अहम् हैं या श्रीकृष्ण के लिये कहे गये हैं।

महाराज – "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं...।" 'अवजानन्ति मां मूढ़ा:" – कहने से नैर्व्यक्तिक ईश्वर का ही बोध होता है। किन्तु ये यथा मां प्रपद्यन्ते' – जो जिस भाव से उनकी आराधना करेगा, वह उसी भाव से उन्हें प्राप्त करेगा। वासुदेव श्रीकृष्ण का चिन्तन करने से नित्यकृष्ण का बोध करेगा।

प्रश्न – क्या उसमें विरह नहीं है ?

महाराज – वह विरह आनन्द की ही एक दूसरी अवस्था है।

प्रश्न – जो लोग पेड़, पत्थर इत्यादि की पूजा करते हैं, क्या उससे उनलोगों की मुक्ति नहीं होगी?

महाराज – होगी, यदि वे लोग एक पत्थर के अन्दर में भी नैर्व्यक्तिक निर्गुण ईश्वर की धारणा करें। नहीं तो –

"यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मदयाजिनोऽपि माम्।"

'स्थूल शरीर' और 'सूक्ष्म शरीर' के पार जाने से ही 'कारण शरीर' है। वहीं पर आनन्दमय कोष है। कारण शरीर के पार जाने से ही निर्वाण अर्थात् मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न – ठाकुरजी, स्वामीजी – क्या ये लोग हमेशा आनन्दमय कोष में रहते थे?

महाराज – नहीं। जब स्वामीजी विश्वनाथ दत्त के पुत्र थे, तब नहीं, जब ठाकुर जी इस जागतिक स्तर पर उतरते थे, तब नहीं, जब चैतन्यदेव भक्तों के साथ रहते थे, तब नहीं रहते थे।

(शेष पृष्ठ ३७ पर)
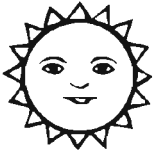
मकर-संक्रान्ति : पौराणिक एवं सामाजिक सन्दर्भों में
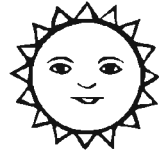
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

मकर-संक्रान्ति का पर्व हिन्दुओं के प्रमुख पर्वों में से एक है। संक्रान्ति पर्व का सम्बन्ध सूर्य के राशि-संक्रमण से होता है। बारह राशियों में से प्रत्येक पर सूर्य एक-एक मास तक रहता है और इसी अवधि को सौर मास कहते हैं। सूर्य जिस दिन एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण करता है, वह दिन संक्रान्ति-दिवस होता है।

सभी संक्रान्तियों में मेष और मकर राशि की संक्रान्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं, जिनमें दान-पुण्य, यज्ञ-हवन तथा गंगास्नान आदि का बड़ा महात्म्य बतलाया गया है। माघ के महीने में सूर्य धनु से मकर राशि में संक्रमण करता है और अपनी उत्तरायण गति में प्रविष्ट होता है। सूर्य की यह गति अत्यन्त शुभ होती है, इसीलिये शरशैया पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने प्राण त्यागने के लिये सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा की थी।

माघ मास में पड़ने वाली यह मकर-संक्रान्ति पृथ्वी पर ऋतु-परिवर्तन और वसन्त की पुरोधा है और इसके थोड़े ही दिनों बाद वसन्तपंचमी का त्योहार पड़ता है। मकर-संक्रान्ति के दिन किसी नदी या सरोवर में स्नान कर दान-पुण्य किया जाता है। गंगा में स्नान करने की तो विशेष महिमा है। गंगास्नान कर सूर्य देवता की पूजा का विधान है, क्योंकि संक्रान्ति का सम्बन्ध सूर्य से ही है; सूर्य को अर्घ्यदान कर भजन-पूजन और अन्नदान किया जाता है। आज के दिन तिल के दान का विशेष विधान है। तिल, चावल, जौ आदि हविष्यान्न होने के कारण पवित्र स्वीकार किये गये हैं। कहते हैं कि संक्रान्ति के दिन यदि तिल का दान, तिल का हवन, तिलोदक से स्नान, तिल का अनुलेपन, तिलमिश्रित जल का पान और तिल का भोजन किया जाय, तो मकर-संक्रान्ति का पुण्य और भी बढ़ जाता है।

इस दिन तिल के बने लड्डुओं के साथ नये चावल और उड़द की खिचड़ी का भी दान किया जाता है, इसलिये मकर-संक्रान्ति को लोक-व्यवहार में खिचड़ी का त्योहार भी कहते हैं। एक अन्य स्रोत के अनुसार मकर-संक्रान्ति के दिन भगवान शंकर के पूजन का भी विधान है। ऐसी मान्यता है कि यदि शिवलिंग पर घृत का लेपन कर तिलपुष्पों और बिल्वपत्र से उनकी अर्चना की जाय, तो व्यक्ति के सभी दु:ख और दरिद्रता मिट जाते हैं।

मकर-संक्रान्ति के दिन गंगा तथा अन्य नदियों के तट पर मेले लगते हैं, जिनमें अनेक सन्त और विद्वान अपने उपदेशों और प्रवचनों से आगत भक्तों और जिज्ञासुओं के हृदय में श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान का संचार करते हैं। तीर्थराज प्रयाग में तो गंगा-यमुना के संगम पर सम्भवत: विश्व का सबसे अद्भुत मेला लगता है। सारे संसार में कहीं भी प्रति वर्ष इतना बड़ा धार्मिक और आध्यात्मिक समारोह आयोजित नहीं होता, जिसमें देश-विदेश से लाखों लोग आते हों और कुछ ही देर को सही, अपनी सीमित लौकिक चेतना से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता का संस्पर्श पाते हों। माघ-मेला के नाम से विख्यात यह मेला पौष पूर्णिमा से प्रारम्भ हो महाशिवरात्रि तक चलता है, किन्तु मकर-संक्रान्ति से वसंत-पंचमी तक इसकी विशेष शोभा रहती है। अनेक समाजसेवी और आध्यात्मिक संस्थाएँ अपने-अपने शिविर लगाती हैं, साधु सन्तों के प्रवचन होते हैं और रामलीला-मण्डलियाँ श्रीराम और श्रीकृष्ण के जीवन-प्रसंगों का अभिनय करती हैं। सूर्य की प्रथम किरण दिखने से लेकर रात देर तक गंगा के तट पर एक अद्भुत उल्लास और उन्मुक्त आनन्द की सृष्टि होती रहती है। अनेक श्रद्धालुजन मकर-संक्रान्ति से प्रारम्भ कर एक महीने तक गंगातट पर कल्पवास करते हैं तथा भजन-पूजन और हरिकथा-श्रवण में समय बिताते हैं।

प्रयाग क्षेत्र में माघ मास में आयोजित होने वाले इस मेले की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अतीत में अनेक ऋषि-मुनि इस अवसर पर प्रयाग पधारते थे और एक मास तक गंगास्नान कर यज्ञ-हवन और तत्त्वचर्चा में दिन बिताते थे। उस समय गंगा प्रयाग में भरद्वाज ऋषि के आश्रम के समीप ही बहती थीं और उनका आश्रम ही इस सन्त-समागम का केन्द्र होता था। न केवल मनुष्य अपितु देवता, गन्धर्व और किन्नर भी आकर गंगा में स्नान करते थे और वेणीमाधव और अक्षयवट का पूजन करते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस में मकर-संक्रान्ति पर होने वाले इस सन्त समागम का इस प्रकार वर्णन किया है।

माघ मकर गत रवि जब होई।
तीरथपतिहि आव सब कोई।।
देव दनुज किन्नर नर श्रेनी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी।।
पूजहिं माधव पद जलजाता।
चरसि अखयबटु हरषहिं गाता।।
भरद्वाज आश्रम अति पावन।
परम रम्य मुनिवर मन भावन।।
तहां होय मुनि रिषय समाजा।
जाहिं जे मज्जन तीरथराजा।।
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।

कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा ।। १/४४/३-८

(भावार्थ – माघ में जब सूर्य मकर राशि पर जाते हैं, तब सब लोग तीर्थराज प्रयाग को आते हैं । देवता, दैत्य, किन्नर और मनुष्यों के समूह सब आदरपूर्वक त्रिवेणी में स्नान करते हैं । श्री वेणीमाधवजी के चरणकमलों को पूजते हैं और अक्षयवट का स्पर्श कर उनके शरीर पुलकित होते हैं । भरद्वाजजी का आश्रम बहुत ही पवित्र, पर रमणीय और श्रेष्ठ मुनियों के मन को भाने वाला है । तीर्थराज प्रयाग में जो स्नान करने जाते हैं, उन ऋषि-मुनियों का समाज वहाँ – भरद्वाज के आश्रम में जुटता है । प्रात:काल सब उत्साहपूर्वक स्नान करते हैं और फिर परस्पर भगवान के गुणों की कथाएँ कहते हैं ।)

यह जानने की बात है कि सन्तसमाज में याज्ञवल्क्य के द्वारा रामकथा का सर्वप्रथम उपदेश भी इसी अवसर पर हुआ था । महातपस्वी और परमज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि माघ मास में गंगास्नान करने प्रयाग आए हुए थे । यहीं पर भरद्वाज मुनि ने श्रीराम के तात्त्विक रूप के विषय में उनसे जिज्ञासा की थी और महर्षि याज्ञवल्क्य ने उन्हें रामकथा का उपदेश किया था । इस प्रकार अनादिकाल से माघ मास में घटने वाली यह मकर-संक्रान्ति एक ज्ञान-पर्व रहा है जिसमें स्थूलता से आबद्ध साधारण मनुष्य की चेतना में भी आध्यात्मिक क्रान्ति घटती रही है ।

मकर-संक्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका रूप जनोत्सव का है । समाज के प्रत्येक वर्ग का सदस्य चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, सम्पन्न हो या विपन्न, इसे सरलता से मना सकता है । इस पर्व का कोई विशेष कर्मकाण्ड भी नहीं है, बस गंगास्नान और दान की ही कर्तव्यता है । जिन वस्तुओं का दान किया जाता है वे नगरों और गावों में सहजता से उपलब्ध होती हैं जैसे तिल नया चावल, उड़द-गुड़ और मटर की छीमियाँ (फलियाँ) जिनसे खेत इस समय भरे होते हैं । तिल के दान का विशेष महत्त्व केवल इसलिये नहीं है, क्योंकि वह हविष्यान्न है, वरन् इसलिये भी है, क्योंकि उसकी प्रकृति गरम होती है और ठण्ड में वह स्वास्थ्य के लिये बड़ी लाभकारी होती है ।

नया चावल और नया गुड़ ऋतु की नई चीज़ें होती हैं । हमारे यहाँ यह मान्यता रही है कि ऋतु की कोई भी वस्तु पहले दूसरों को देकर ही ग्रहण करनी चाहिए, इसीलिये गुड़ और चावल के दान का विधान है । अन्नदान सभी दानों में सर्वश्रेष्ठ है । क्योंकि प्राणिमात्र को भोजन प्रिय होता है । प्रिय वस्तु का दान ही कोई अर्थ भी रखता है, अप्रिय या अनपेक्षित वस्तु को देने में कोई उदारता नहीं होती । इसके अतिरिक्त दान अनुदारता, संग्रह और परिग्रह की प्रवृत्ति को भी रोकता है । इसी कारण प्रत्येक पूजन या पर्व-त्योहार के अनिवार्य अंग के रूप में दान का विधान अवश्य होता है ।

मकर-संक्रान्ति के दिन तिल और चावल-उड़द की खिचड़ी का भोजन किया जाता है । ये सारे खाद्य पदार्थ जनसाधारण को आसानी से सुलभ होते हैं । संक्रान्ति का पर्व किसी प्रकार का आर्थिक और सामाजिक दबाव नहीं पैदा करता । वास्तव में संक्रान्ति का स्वरूप इस कृषिप्रधान देश की फसलों, सदानीरा नदियों और ग्रामीण संस्कृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है । यह संक्रान्ति-पर्व जहाँ एक ओर लोगों के हृदय में आस्था, उल्लास और सद्भाव की सृष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर जीवन की समस्याओं और तनावों से ध्यान हटा कर जनमानस को एक ऊँची भावभूमि पर भी प्रतिष्ठित करता है और तृष्णा की नदी में डूबता-उतराता मन वर्ष में एक बार ही सही ज्ञानगंगा का संस्पर्श भी प्रदान कर लेता है ।

❑❑❑

ईश्वर ही है, यह जग सारा – जो कुछ तुम देखते हो, सुनते हो या अनुभव करते हो, सब उसी की सृष्टि है – सच कहें, तो उसी का प्रक्षेप है; और भी सही कहें, तो सब कुछ स्वयं प्रभु ही है । सूर्य और ताराओं के रूप में वही चमक रहा है, वही धरती माता है, वही समुद्र है । वही बादलों के रूप में बरसता है, वही मृदु पवन है, जिसमें हम साँस लेते हैं, वही शक्ति बनकर हमारे शरीर में कार्य कर रहा है । वही भाषण है, वक्ता है, फिर श्रोता भी वही है । वही यह मंच है, जिस पर मैं खड़ा हूँ, वही यह प्रकाश है, जिससे मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह सब कुछ वही है । वह ब्रह्माण्ड का उपादान और निमित्त कारण है, संकुचित होकर वही अणु का रूप धारण करता है, फिर वही विकसित होकर पुन: ईश्वर बन जाता है । वही धीरे-धीरे सूक्ष्मतम परमाणु हो जाता है, फिर वही धीरे-धीरे अपना स्वरूप अभिव्यक्त करता हुआ अन्तत: पुन: 'अपने' साथ युक्त हो जाता है – बस, यही जगत् का रहस्य है । 'तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं स्त्री हो, यौवन के गर्व से भरे हुए युवक भी तुम्हीं हो; तुम्हीं बुढ़ापे में लाठी के सहारे लड़खड़ाते हुए वृद्ध हो, तुम्हीं सभी वस्तुओं में हो, हे प्रभो ! तुम्हीं सब कुछ हो ।' जगत्-प्रपंच की केवल यही व्याख्या मानव-बुद्धि को परितृप्त करती है । सारांश यह कि हम उसी से जन्म लेते हैं, उसी में जीवित रहते हैं और उसी में लौट जाते हैं ।

– स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१. जड़भरत की कथा

प्राचीन काल में भारतवर्ष में भरत नाम के एक महान प्रतापी सम्राट् राज्य करते थे। दुनिया के लोग जिस देश को 'इंडिया' कहते हैं, उसे इस देश की सन्तान भारतवर्ष कहती आयी है। हर हिन्दू का कर्तव्य है कि वह वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही सर्वस्व त्याग कर – इस संसार की सारी चिन्ताएँ – ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति – अपने पुत्र के हाथों में सौंपकर वन में चला जाय और वहाँ अपने सच्चे स्वरूप – आत्मा का चिन्तन करते हुए इस संसार के मोहों से मुक्त हो जाय। राजा हो या पुरोहित, किसान हो या नौकर, पुरुष हो या स्त्री – कोई भी इस कर्तव्य से मुक्त नहीं है; क्योंकि पुत्र, भाई, पति, पिता, स्त्री, पुत्री, माता तथा बहन के रूप में उसके सारे कर्तव्य – उसी एक अवस्था की ओर ले जाने वले सोपान मात्र हैं, जिसमें मानवात्मा को जड़ पदार्थों से बाँधनेवाले सारे बन्धन चिर काल के लिए टूट जाते हैं।

सम्राट् भरत भी इसी प्रकार अपना राज्य पुत्र को सौंपकर वन में रहने चले गये। जो कभी करोड़ों लोगों पर शासन करते थे, संगमर्मर के स्वर्ण-मण्डित राजप्रसादों में निवास करते थे, रत्नजटित बर्तनों में भोजन करते थे; आज उन्होंने हिमालय की तलहटी के वनों में जाकर एक नदी के तट पर अपने ही हाथों से घास-फूस की एक छोटी-सी कुटी बनायी और उसी में निवास करने लगे। वहाँ वे कन्द-मूल एकत्र करके खाते और अपना सारा समय उन अन्तर्यामी परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में बिताते, जो साक्षी रूप से हर जीव में विद्यमान है। इसी प्रकार दिन, माह और वर्ष बीतने लगे।

एक दिन राजर्षि भरत जहाँ बैठकर ध्यान कर रहे थे, वहीं एक हरिणी पानी पीने आयी। तभी थोड़ी दूरी पर एक सिंह ने गर्जना की। हरिणी इतनी भयभीत हो गयी कि उसने अपनी प्यास बुझाये बिना ही नदी पार करने के लिए लम्बी छलाँग लगा दी। हरिणी गर्भवती थी; और भय तथा इस प्रयास के फलस्वरूप उसने तत्काल एक बच्चे को जन्म दिया और वहीं गिरकर मर गयी। मृग-शावक नदी में गिर पड़ा और पानी के तेज प्रवाह में बहने लगा। तभी राजर्षि भरत की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने अपने ध्यान से उठकर उस मृग-शावक को बचाया और उसे अपनी कुटिया में ले गये। वहाँ उन्होंने अपनी धूनी जलायी और स्नेहपूर्वक उसे सहलाने लगे, जिससे उस बच्चे को मानो एक नया जीवन मिल गया।

दयावान महात्मा स्वयं हरिण के उस बच्चे के संरक्षक बन गये और उसके लिये नरम घास तथा फल आदि लाकर उसका लालन-पालन करने लगे। वनवासी महाराजा का मातृ-स्नेह पाकर मृग-शावक धीरे-धीरे बड़ा होते हुए एक सुन्दर हरिण बन गया। इधर, जिन महात्मा ने अपने दृढ़ संकल्प के बल पर अपनी सत्ता, सम्पदा तथा पारिवारिक स्नेह की आसक्तियों से मुक्ति पा ली थी, वे अब नदी से बचाकर निकाले हुए इस मृगशावक के स्नेह में बँध गये। उनका यह स्नेह ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका ईश्वर-चिन्तन तथा उपासना घटती गयी। हरिण जब वन में चरने चला जाता और उसके लौटने में कुछ देरी होती, तो महात्मा के मन में चिन्ता होने लगती। वे सोचते – कहीं मेरे प्रिय हरिण पर किसी सिंह ने तो आक्रमण नहीं कर दिया, उस पर कोई आपत्ति तो नहीं आ गयी, आज उसे इतनी देर क्यों हो गयी?

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये, परन्तु एक दिन राजर्षि के मृत्यु का दिन आ पहुँचा। मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए उनका मन आत्म-चिन्तन के स्थान पर हरिण की चिन्ता में ही निमग्न था। उन्होंने अपने शोकविह्वल नेत्रों से अपने प्रिय हरिण की ओर देखते हुए ही देहत्याग कर दिया। इसके फलस्वरूप उन्हें एक हिरण के रूप में पुनर्जन्म लेना पड़ा। परन्तु किसी भी कर्म का नाश नहीं होता, अत: पिछले जन्म में राजा तथा ऋषि के रूप में किये हुए अपने सारे पुण्य कर्मों का फल उन्हें प्राप्त हुआ। यह हरिण जन्म से ही जातिस्मर था, अत: यद्यपि वह बोलने में असमर्थ एक पशु का जीवन बिता रहा था, पर उसे अपने पिछले जन्म की सारी बातें याद थीं। वह सर्वदा अपने साथियों को छोड़कर स्वभाविक रूप से ही उन तपोवनों के पास चरने जाता, जहाँ याग-यज्ञ और उपनिषदों पर चर्चा हुआ करती थी।

हरिण के रूप में आयु पूरा होने के बाद राजर्षि भरत ने देहत्याग किया और पुन: एक धनाढ्य ब्राह्मण के सबसे छोटे पुत्र के रूप में जन्म लिया। इस जीवन में भी उन्हें अपने पूर्व जन्मों की बातें याद थीं और उन्होंने बचपन से ही जीवन के पाप-पुण्यों में न उलझने का संकल्प किया। आयु बढ़ने पर बालक स्वस्थ और बलवान हो गया, पर वह एक शब्द भी नहीं बोलता था और संसारिक माया-मोह में फँसने से बचने के लिए वह मूर्ख और पागल जैसा रहने लगा। उसके हृदय में सदा अनन्त ब्रह्म का चिन्तन होता रहता था; मात्र अपने प्रारब्ध कर्मों का क्षय करने के लिए ही जीवन बिता रहा था।

बाद में उसके पिता की मृत्यु हो गयी। भाइयों ने आपस

में सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया। वे अपने छोटे भाई को गूँगा और निकम्मा समझकर उसका हिस्सा भी स्वयं हड़प कर गये। वे दया करके उन्हें केवल जीवन धारण भर के लिये भोजन दे देते थे। उनकी भाभियाँ भी उसके साथ प्राय: बड़ा कर्कश व्यवहार करती थीं। वे उनसे बड़ा कठोर परिश्रम करातीं और यदि उसका कोई कार्य उन लोगों की इच्छानुसार नहीं हुआ, तो वे उन्हें खूब डाँटती-फटकारती थीं। परन्तु वे न कभी चिढ़ते, न कुढ़ते और न ही कुछ बोलते। जब उनका अत्याचार चरम सीमा तक पहुँच जाता, तो वे धीरे-धीरे घर से बाहर निकलते और तब तक एक वृक्ष के नीचे बैठे रहते, जब तक कि उनकी भाभियों का क्रोध शान्त नहीं हो जाता; बाद में वे फिर चुपचाप घर लौट आते।

एक दिन भरत की भाभियों ने उनके प्रति बड़ा कठोर व्यवहार किया था। वे चुपचाप घर से निकल कर एक वृक्ष की छाया तले विश्राम करने लगे। दैवयोग से उस देश के राजा पालकी पर बैठे उसी मार्ग से जा रहे थे। पालकी ढोने वाले कहारों में से एक अचानक बीमार हो गया, इसलिए उनके कर्मचारी किसी पालकी ढो सकने वाले आदमी की तलाश में इधर-उधर देख रहे थे।

वृक्ष के नीचे बैठे भरत को देखकर वे लोग वहाँ आये और उन्हें सबल शरीरवाला देखकर पूछा कि क्या वह राजा के बीमार पालकी-वाहक के स्थान पर काम कर सकेंगे! भरत ने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्हें हट्ठा-कट्ठा देखकर राजा के कर्मचारी उन्हें बलपूर्वक पकड़कर ले गये और पालकी ढोने के काम में लगा दिया। भरत भी चुपचाप पालकी ढोने लगे। पर थोड़ी ही देर बाद राजा ने पाया कि पालकी हिचकोले खा रही है। राजा ने पालकी से बाहर झाँका और नये वाहक से कहा, "रे मूर्ख ! तू थोड़ा आराम कर ले। यदि तेरे कन्धे थक गये हैं, तो थोड़ा आराम कर ले।"

इस पर भरत ने पालकी को नीचे रख दिया और जीवन में पहली बार अपना मौन तोड़ते हुए कहा, "हे राजन्, आपने किसे मूर्ख कहा है? आप किसे पालकी को नीचे रखने का आदेश दे रहे हैं? आप किसे थका हुआ कह रहे हैं? आप किसे 'तू' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं? राजन्, यदि 'तू' से आपका तात्पर्य इस मांसपिण्ड से है, तो यह उसी पदार्थ से बना है, जिससे आपकी देह बनी है; यह अचेतन है और यह थकान और पीड़ा नहीं जानता। यदि आपका तात्पर्य मन से है, तो यह आपके मन जैसा ही है; यह सर्वव्यापी है। परन्तु यदि 'तू' शब्द से आपका तात्पर्य इससे भी परे किसी वस्तु से है, तो वह केवल आत्मा ही हो सकता है, जो मेरा सच्चा स्वरूप है, जिसकी सत्ता आपमें भी है और जो विश्व में एक तथा अद्वितीय है। राजन्, क्या आप मानते हैं कि आत्मा कभी थक सकती है या पीड़ित हो सकती है? राजन्, मैं अर्थात यह शरीर धरती पर रेंगने वाले इन बेचारे कीड़ों को पैरों तले कुचलना नहीं चाहता था, इसलिए उन्हें बचाने के प्रयत्न में पालकी की गति विषम हो गयी थी। परन्तु आत्मा न कभी थकी थी और न कभी पीड़ा का बोध कर रही थी; उसने कभी पालकी को नहीं ढोया, क्योंकि वह तो सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।" इस प्रकार भरत ने बड़े स्पष्ट रूप से आत्मा के स्वरूप तथा सर्वोच्च ज्ञान का निरूपण किया।

राजा को अपनी विद्वत्ता तथा ज्ञान का बड़ा अभिमान था; पर भरत के ये शब्द सुन उसका गर्व चूर्ण हो गया। वे तुरन्त पालकी से नीचे उतरे और यह कहते हुए भरत के चरणों में गिर पड़े, "महानुभाव, मुझे क्षमा करें; आपको पालकी ढोने का आदेश देते समय मैं नहीं जानता था कि आप एक ऋषि हैं।" भरत ने राजा को आशीर्वाद दिया और लौटकर फिर पूर्ववत् अपनी जीवन-यात्रा जारी रखी। देहत्याग करने के बाद वे सदा-सर्वदा के लिए आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो गये। (वि.सा., ७/१६९-१७२)

२. ऋषि लोग किसको उपदेश देते?

ईसा के जन्म के करीब १४०० वर्ष पूर्व भारत में एक बहुत बड़े दार्शनिक हुए हैं, जिनका नाम पतंजलि था। उन्होंने मनोविज्ञान के सारे तथ्य, प्रमाण तथा आविष्कृत सिद्धान्तों और पूर्वकालीन सभी अनुभवों को एकत्र किया।

याद रहे, यह दुनिया बहुत पुरानी है। ऐसा मत समझना कि यह केवल दो-तीन हजार वर्ष पूर्व ही रची गयी है। इधर तुम पश्चिमी लोगों को पढ़ाया जाता है कि समाज का आरम्भ १८०० वर्ष पूर्व बाइबिल के 'नव व्यवस्थान' के साथ ही हुआ, इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है यह बात पश्चिमी दुनिया के बारे में सत्य हो, परन्तु सारी दुनिया के सन्दर्भ में यह बात सत्य नहीं हो सकती।

जब मैं लन्दन में भाषण दिया करता था, तो एक अत्यन्त बुद्धिमान और बुद्धिजीवी मित्र मुझसे प्राय: ही वाद-विवाद किया करता था। एक दिन अपने सारे शस्त्र चला लेने के बाद वह अचानक बोल उठा, "लेकिन तुम्हारे ऋषि लोग पहले कभी इंग्लैंड में हमें ज्ञान देने क्यों नहीं आये?"

मैंने उत्तर दिया, "तब इंग्लैंड था ही कहाँ, जो ज्ञान देने आते? क्या वे जंगलों को पाठ पढ़ाते?"

इंगरसोल ने मुझसे कहा था, "यदि आप पचास साल पहले यहाँ ज्ञान सिखलाने आते, तो या तो आपको फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जिन्दा जला दिया जाता, या फिर पत्थर मार मारकर आपको गाँवों से बाहर निकाल दिया जाता।"

अतएव यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि ईसा के १४०० वर्ष पूर्व भी सभ्यता विद्यमान थी। (३/११४)

❖ (क्रमशः) ❖

स्मृतियों का गुलदस्ता

ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य

(श्रीरामकृष्ण अपने भक्तों के बारे में कहते, 'यह मेरा भाँति-भाँति के फूलों का गुलदस्ता है'। सबको लेकर ही उनके 'प्रेम के बाजार में आनन्दमेला' लगा था। संकलक ने माँ की जीवनी लिखने हेतु उनके बहुत-से शिष्यों-भक्तों से उनके बारे में अनेक बातें एकत्र की थीं। जीवनी प्रकाशित होने के बाद भी माँ की कुछ उक्तियाँ या विशेष परिस्थितियों में उनके व्यवहार के विवरण – उनके पास बच गये थे। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के तीसरे भाग से उन्हीं का श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है – सं.)

१. स्वामी केशवानन्द

स्वामी निर्मलानन्द और ब्रह्मचारी कृष्णलाल (बाद में स्वामी धीरानन्द) ने १३१३ बंगाब्द (१९०६ ई.) की जुलाई में कोआलपाड़ा में पदार्पण किया और मेरे घर पधारे थे। वे बोले, "जयरामबाटी में माँ हैं, वहाँ जाना।" सुबह स्नान करके कृष्ण नामक एक भक्त के साथ जयरामबाटी गया। माँ दक्षिण की ओर द्वार वाले कमरे के भीतरी दरवाजे पर बाँया हाथ रखकर खड़ी थीं, मुझे देखते ही बोलीं, "दीनू-दादा!" काली-मामा बोले, "नहीं, उनके लड़के हैं।"

माँ बोलीं, "ओ माँ, दीनू-दादा का लड़का इतना बड़ा हो गया! मैंने उन्हें ठीक ऐसा ही देखा था।"

उसके बाद बातों-बातों में वे बोलीं, "तुम्हारे पिता ने यहाँ पर दस-बारह साल पाठशाला चलायी थी। काली, वरदा, अभय को पढ़ाते थे। हमारे यहाँ खाते और रहते थे। ठाकुर के आने पर सभी उन्हें पागल कहते, तो भी तुम्हारे पिता उनकी भक्ति करते थे, उनकी सेवा करते थे। तुम्हारी जितनी उम्र होने तक यहीं थे। तुम्हारा डीलडौल उन्हीं के जैसा होने के कारण तुम्हें देखकर उनकी याद आ गयी। मैं तुम्हारे पिता को 'भैया' कहती थी, अत: मैं तुम्हारी बुआ हुई।"

मैं – "नहीं माँ, बुआ आदि शुष्क नाम मुझे अच्छे नहीं लगते, मैं तो 'माँ' कहकर पुकारूँगा।"

माँ – "वैसा ही होगा। तुम्हारे पिता ने ठाकुर की सेवा की थी, इसलिये उस पुण्य के कारण धर्म में तुम्हारी मति हुई है।... मेरे पास ठाकुर का चित्र है, तुम्हें देती हूँ।"

माँ ने एक बड़े सन्दूक में से, पतले कागज से ढँका, कपड़े में लिपटा, बड़े यत्न से रखा हुआ ठाकुर का एक चित्र निकाला। उसे मेरे हाथ में देकर वे बोलीं, "इसे मढ़वाकर इनकी पूजा करना।... मेरे पास नरेन की भी एक फोटो है, देती हूँ।" उन्होंने उसी सन्दूक से पहले की ही तरह कागज और कपड़े में लिपटा स्वामीजी का एक चित्र निकालकर मुझे दिया। हमारे पास बैठकर उन्होंने अनेक बातें कहीं – "ठाकुर कहते थे – लालटेन के नीचे अँधेरा रहता है। देश-विदेश के कितने ही लोग ठाकुर की बात जान गये हैं, पर इस प्रदेश के लोग नहीं जान सके। तुम्हारे माध्यम से इस अंचल के अनेक लोग ठाकुर की बात जानेंगे।"

२. स्वामी कैवल्यानन्द

एक वृद्ध, शायद निम्नजाति का था, हाथ में कुम्हड़े के पत्ता लिये हुए, बड़े संकोचपूर्वक जयरामबाटी आ पहुँचा। उसे देखते ही माँ "आओ, आओ" – कहकर दो कदम पीछे हट गयीं। माँ जहाँ खड़ी थीं, वहाँ की धूलि पत्ते पर लेकर थोड़ा सिर, चेहरे और सीने पर लगाने के बाद वह चला गया। माँ बोली, "वह इसी प्रकार प्रतिदिन आकर ले जाता है।"

३. स्वामी गिरिजानन्द

ठाकुर की पूजा करने के बाद माँ ने हम तीनों (मैं, स्वामी विशुद्धानन्द तथा स्वामी शान्तानन्द) के हाथ में गेरुआ वस्त्र तथा कौपीन दिया और ठाकुर से बोलीं, "ठाकुर इनके संन्यास की रक्षा करना। पहाड़-पर्वत, वन-जंगल – ये चाहे जहाँ भी रहें, इन्हें थोड़ा खाने को देना।" हम लोगों से बोलीं, "श्राद्ध आदि कर्मों में अब तुम लोगों का कोई अधिकार नहीं रहा। आज से सबका अन्न खा सकते हो। यदि आदिवासी महिला भी आकर भिक्षा दे, तो यह समझकर खाना कि माँ अन्नपूर्णा दे रही हैं।"

४. स्वामी तन्मयानन्द

संन्यास ग्रहण के उद्देश्य से मैं जयरामबाटी गया। माँ बोलीं, "कल सुबह आना। वस्त्र तथा कौपीन गेरुए में रंगकर और सिर मुड़ाकर आना। चोटी रखने की आवश्यकता नहीं, पुरा मुड़ा लेना।" (अगले दिन संन्यास देते समय) मेरे हाथ में जल देकर आचमन करने को कहकर वे मंत्र बोलने लगीं। इसके बाद उन्होंने मेरे सिर पर – ठीक ब्रह्मरन्ध्र पर कुछ लिखा और फूल चढ़ाकर इस स्थान पर पूजा करते-करते जल के छींटे देने लगीं। (गेरुआ वस्त्र) मेरे हाथ में देकर बोलीं, 'सिर पर रखकर बाहर जाओ और पहन आओ।"

५. स्वामी विश्वेश्वरानन्द

माँ से मेरी इस प्रकार बातचीत हुई, "मैं इतना जप-तप करता हूँ, क्यों कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ? आप ध्यान करके देखिये – क्यों नहीं कुछ हो रहा है?"

माँ – "देखो, मेरा स्वास्थ्य बड़ा खराब है।"

मैं – "नहीं चलेगा, आपको देखना ही होगा।"

माँ – "ठीक है।" इसके बाद एक दिन माँ बोलीं, "मैंने तो कई दिन देखा, तुम्हारी बड़ी उच्च अवस्था है। जगदम्बा तुम्हें गोद में लिये बैठी हैं।"

मैं – मैं कुछ समझ क्यों नहीं पा रहा हूँ?"

माँ – "लगता है कुछ कर्म बाकी हैं।"

६. स्वामी सत्संगानन्द

गोपेश और विनोद नवासन से दूध लाते हैं। देखा गया कि उस दूध में भात पड़ा है – अब क्या हो? थोड़ी देर बाद माँ बोलीं, "दूध अशुद्ध नहीं होता। इसके सिवा, पैसे देकर कोई चीज खरीदने पर शुद्ध हो जाता है।"

जगद्धात्री पूजा के समय एक व्यक्ति पत्तल बेचने आया। माँ ने मोलभाव करके कुछ पत्तल खरीदने के बाद कहा, "कुछ पुरौनी नहीं दोगे?" इसके बाद उस व्यक्ति के चेहरे की ओर देखकर बोलीं, "रहने दो, जरूरत नहीं।"

७. स्वामी महादेवानन्द

कई बार देखा है – माँ ठाकुर को (सिंहासन से) नीचे उतारतीं और पूजा करने के बाद उन्हें चूमकर पुनः ऊपर विराजित करा देतीं।

८. अमूल्य घोष

१९०६ ई. का चैत का महीना था। प्रवेशिका परीक्षा देने के बाद मैं, बोशी सेन, ज्योतिशचन्द्र बनर्जी और हाराधन घोष विष्णुपुर से पैदल जयरामबाटी गये। राजगाँव से बैलगाड़ी में चलकर दोपहर में कोतुलपुर पहुँचे। वहाँ से पैदल चलते हुए रास्ता भूल जाने से बहुत भटकने के बाद जब हम आमोदर नदी के किनारे पहुँचे, तब तक काफी रात हो गयी थी – झाड़ियों के सिवा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। तभी एक व्यक्ति रोशनी लिये आते दिखा। हमने उससे जयरामबाटी का रास्ता पूछा। वह बोला, "सारदा के घर जाओगे? सारदा ने ही मुझे भेजा है, चलो। वह बोली, 'चार लड़के भटक रहे हैं, उन्हें रोशनी दिखाकर ले आओ'।" पहले से सूचना नहीं दी गयी थी। माँ ने सब सुनकर कहा, "मैंने सोचा था कि दोपहर में आओगे, पर आ नहीं सके। यहाँ आने के लिये भटकना पड़ता है।" हम लोग दो दिन माँ के पास थे। 'घर शीघ्र लौटना होगा, वारुणी में स्नान करने जा रहे हैं, कहकर चले आये हैं' – सुनकर माँ बोलीं, "मैं ही तो वारुणी हूँ।"

९. आह्लादिनी घोष (गयला बहू)

उस वर्ष सूखा पड़ा था, खेत में धान सूखे जा रहे थे। माँ स्नान के बाद सिंहवाहिनी को प्रणाम करके बोलीं, "पानी नहीं बरसेगा, तो बच्चों को खाना नहीं मिलेगा, मैं कैसे देख सकूँगी माँ? बच्चे आकर कहेंगे, 'बुआ, खाना नहीं मिला'।" इतना कहकर माँ घर लौटकर ठाकुर की पूजा करने बैठी ही थीं कि आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट हुई और इतना पानी बरसा कि सारे खेत लबालब भर गये।

५. इन्दुमती देवी (माँ की भ्रातृवधू)

ठाकुर ने माँ से कहा था, "तुम अपना दक्षिणी द्वार वाला कमरा रखना, अन्यथा लोग कहेंगे कि रामलाल की चाची गठरी लेकर आयी है। यदि रामलाल का पक्का मकान बन जाय, तो भी तुम्हारा कोई स्वार्थ नहीं है।" माँ कहतीं, "ठाकुर बोले थे इसीलिये रामलाल का पक्का मकान बना।"

जयरामबाटी की एक महिला – गगन की माँ कलकत्ता देखने आयी थी। उसके मायेर बाड़ी में आने पर माँ ने पूछा, "तुम मठ में गयी थी, क्या-क्या देखा?" वह बोली, "ओ माँ! मठ में कैसी सुन्दर-सुन्दर गायें थी!" – "तुमने और कुछ नहीं देखा, केवल गायें ही देखकर चली आयी?"

काँसे का एक अच्छा गिलास गंगाजी में खो जाने पर नलिनी खूब लाल-पीली हो रही थी। माँ बोलीं, "नलिनी डाँट मत। यदि कोई चीज गंगाजी में खो जाय, तो उसके लिये दुख नहीं करना चाहिये; और साधु यदि कोई चीज ले ले, तो उसके लिये भी दुख नहीं करना चाहिये। जिसकी चीज गंगाजी में खोती है, उसकी वह चीज सुरक्षित हो जाती है; और साधु यदि कोई वस्तु ले लेता है, तो उसकी वह चीज अनेक गुना हो जाती है।"

बाहर के लोग यदि आकर माँ से कहते – मुझे यह बीमारी हुई है; या अमुक को यह बीमारी हुई है, तो माँ नाराज होतीं। कहतीं, "मुझे बीमारी की खबर क्यों दे रहे हो? बीमारी की बात नहीं सुनना चाहिये।" और भी कहतीं, "बीमारी की हालत में यदि कोई पूछे – 'कैसे हो?' तो कहना चाहिये, 'वैसे ही हूँ, जो भी हो'!"

११. उपेन्द्रनाथ सरकार

एक बार मैं एक नयी साड़ी और रेशम का एक रूमाल लेकर जयरामबाटी गया। माँ ने स्नान करके वही साड़ी पहनी और रूमाल पर चरण रखकर बैठीं। मैंने फूल, चन्दन, तुलसी, बिल्वपत्र आदि से उनके श्रीचरणों की पूजा की। उसके बाद देवी-माहात्म्य का एक अध्याय पाठ करने के बाद ग्रन्थ का भी उनके श्रीचरणों से स्पर्श कराया। इसके बाद मैंने माँ के चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी तुरीयानन्द : कुछ प्रेरक प्रसंग

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ तथा मिशन के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने पश्चिमी बंगाल के तमलुक मठ में १२ जनवरी १९७९ को भगवान रामकृष्ण के लीलापार्षद स्वामी तुरीयानन्दजी के विषय में अपने संस्मरण सुनाते हुए जो चर्चा की थी, वह बाद में 'अमृतेर सन्धाने' नामक बँगला पुस्तक में प्रकाशित हुआ था। उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

आज हरि महाराज – स्वामी तुरीयानन्दजी का जन्मदिन है। उनके बारे में जो कुछ स्मरण है, कहूँगा। १९२० ई. के मध्य से १९२१ के ३ मार्च तक मैं उनके साथ था।

उनका जन्म कलकत्ते में बागबाजार के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे बचपन से ही त्यागनिष्ठ थे और शुकदेव उनके आदर्श थे। उपनयन संस्कार होने के बाद से ही वे खुद का पकाया हुआ हविष्यान्न खाते और गीता तथा उपनिषदों का पाठ किया करते। इसी काल में एक दिन दक्षिणेश्वर में उनकी श्रीरामकृष्ण से मुलाकात हुई। ठाकुर उनसे बोले, "क्यों जी, सुना आजकल तुम खूब वेदान्त-विचार कर रहे हो? बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा ! विचार तो – 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या' – बस इतना ही है न, या और कुछ? हरि महाराज अवाक् रह गये। समझ गये कि ठाकुर ने कुछ शब्दों में ही वेदान्त का सार कह दिया है।

ठाकुर हरि महाराज को 'गीतोक्त संन्यासी' कहा करते थे। वस्तुत: जब हम उन्हें देखते, तो उनका चाल-चलन, बातचीत आदि देखकर हमें गीता में श्रीकृष्ण द्वारा निरूपित स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की याद हो आया करती। नि:सन्देह वे एक स्थितप्रज्ञ महापुरुष थे।

उनके बारे में कुछ बातें कहूँगा, ताकि आप समझ सकें कि वे कितने महान त्यागी थे। एक दिन वे गंगातट पर बैठे हुए थे। रात काफी बीत चुकी है – देखकर उन्होंने सोचा कि आश्रम लौट चलूँ। पर साथ ही मन में यह विचार भी आया – 'यह कैसी बात? मैं संन्यासी हूँ, वृक्ष के नीचे ही मेरा निवास है। तो फिर मैं आश्रम क्यों जाऊँ?' उन्होंने निश्चय किया कि अब वे आश्रम नहीं लौटेंगे। बहुत दिनों तक इसी भाव में डूबे रहकर वे बाहर ही रहे। कहीं भी आश्रय न लेकर पेड़ के नीचे ही पड़े रहते। इसी काल में एक दिन जब वे वृक्ष के नीचे सोये हुए थे, तो सहसा किसी ने मानो उन्हें धक्का देकर कहा – 'हट जाओ।' वे उठकर थोड़ा खिसक गये और तभी वृक्ष की वह मोटी डाल, जिसके नीचे वे लेटे हुए थे, चरमराकर वहीं गिर पड़ी। वे समझ गये कि प्रभु ने ही उन्हें सावधान करके हटा दिया है, अन्यथा वे उस डाल के नीचे दबकर मर जाते।

उन्हीं दिनों की एक अन्य घटना है। साधु लोग जिस अन्नक्षेत्र में भिक्षा लेने जाया करते, वहाँ एक दिन एक मारवाड़ी सज्जन साधुओं को खिलाने के लिए विविध प्रकार के व्यंजन लेकर उपस्थित थे। साधुओं के भिक्षार्थ आने पर वे उनसे पूछते – वैराग्य किसे कहते हैं? प्रश्न के उत्तर में हर साधु छोटा-मोटा व्याख्यान ही दे डालता था। हरि महाराज की बारी आने पर जब उनके समक्ष भी यही प्रश्न रखा गया, तो वे बोले, "यदि जानता कि वैराग्य किसे कहते हैं, तो क्या दो रोटियों के लिए तुम्हारे पास आता?" उत्तर सुनकर साधुओं ने उनकी खूब प्रशंसा की। दाता सज्जन भी समझ गये कि वैराग्य किस चिड़िया का नाम है !

एक दिन हरि महाराज किसी रास्ते से होकर जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे हमारे मठ के कुछ साधु लोग भी चल रहे थे। सड़क के पास ही एक सुन्दर नया दुमंजिला मकान बन रहा था। उसे देखकर एक साधु बोल उठे, "वाह ! यह तो बड़ा अच्छा मकान है।" हरि महाराज तत्काल पलटकर बोले, "मकान तो अच्छा है, पर इससे तुम्हें क्या लेना-देना है?" हरि महाराज ने ऐसा क्यों कहा? सम्भवत: उन साधु के मन में एक अच्छे मकान में रहने की सुप्त वासना थी, इसीलिए उन्होंने समझा दिया कि इस तरह की आकांक्षा रखना भी उचित नहीं है। इसी प्रकार वे सर्वदा हमारी भूल-त्रुटियाँ बता देते थे।

हरि महाराज जब उत्तराखण्ड में तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों स्वामीजी (विवेकानन्द) – महाराज (ब्रह्मानन्दजी) आदि के साथ भ्रमण करते हुए मेरठ पहुँचे। वहाँ वे अलग-अलग दिशाओं में चले गये। इधर परिव्राजक स्वामीजी (मद्रास से) बम्बई पहुँचे और वहाँ से खेतड़ी के महाराजा से मिलने गये। लौटते समय आबूरोड स्टेशन पर उनकी हरि महाराज तथा राजा महाराजा के साथ भेंट हुई। उस समय स्वामीजी ने हरि महाराज से कहा था, "देखो हरिभाई, भगवद्-दर्शन आदि की बात तो मैं नहीं समझता। ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मदर्शन आदि बातें भी समझ में नहीं आतीं। परन्तु मेरा हृदय बड़ा विशाल हो गया है; अब मैं सबके लिए अनुभव करने लगा हूँ !" उसके बाद ही उन्होंने लिख दिया – "God is Love" (ईश्वर प्रेमस्वरूप है)। सचमुच ही हमारे शास्त्र – नारदीय भक्तिसूत्र में लिखा है – ईश्वर 'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है'। कैसा प्रेमस्वरूप है, यह बताया नहीं जा सकता। वह अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है, बस इतना ही। इसीलिए स्वामीजी ने यह बात कही थी।

स्वामीजी जब दूसरी बार विदेश यात्रा पर जा रहे थे, तो अपने साथ हरि महाराज को भी ले जाना चाहते थे। परन्तु हरि महाराज इस देवदुर्लभ पुण्यभूमि भारत को छोड़कर जाने के लिए तैयार न थे। अन्त में स्वामीजी ने उन्हें अपनी बाँहों में जकड़ लिया और बोले, "देखो हरिभाई, ठाकुर का काम करते-करते मेरा शरीर टूट गया है। तुम लोग क्या मेरी जरा भी सहायता न करोगे?" ऐसा आग्रह देखकर हरि महाराज राजी हो गये। वे स्वामीजी के साथ अमेरिका गये। स्वामीजी ने उनसे कहा था, "तुम्हें यहाँ कोई व्याख्यान आदि नहीं देना होगा। आदर्श संन्यासी का जीवन कैसा होता है – तुम सिर्फ इतना ही दिखा देना। इतने से ही काम हो जायगा।" एक बार स्वामीजी ने अमेरिकावासियों से कहा था, "तुम लोगों ने मुझमें एक fighting (क्षत्रिय-) संन्यासी को देखा है, अब एक ब्राह्मण-संन्यासी को देखो, तभी ठीक-ठीक भारतीय संन्यासी का आदर्श समझ सकोगे।" स्वामी तुरीयानन्दजी ने वैसा ही एक आदर्श संन्यासी का जीवन बिताया था। वे कैलिफोर्निया के 'शान्ति आश्रम' में निवास करते थे। संन्यासी जैसे भारतवर्ष के आश्रमों में रहते हैं, वे भी वहाँ वैसे ही रहते थे। प्रवचन आदि विशेष नहीं देते थे और अपना समय अधिकतर जप-ध्यान स्वाध्याय आदि में ही बिताया करते थे।

एक दिन कक्षा में उन्होंने आश्रम के अन्तेवासियों से कहा था, "यदि तुम लोग Seriously (गम्भीरतापूर्वक) भगवान को पुकारो, तो तीन दिनों में ही उनका दर्शन हो सकता है।" यह सुनकर आश्रम की एक अल्पवयस्क महिला तीन दिनों तक कमरे से बाहर ही नहीं निकली। उसने अपना सारा समय भगवच्चिन्तन में ही बिताया। तीन दिनों बाद उसने आकर हरि महाराज से कहा, "Well Swami, what you said, is true." (स्वामीजी, आपने जो बात कही थी, वह सत्य है)। तात्पर्य यह कि तीन दिनों तक भगवान को पुकारने के बाद उस महिला को भगवान का दर्शन यदि न भी हुआ हो, तो कुछ-न-कुछ अनुभूति उसे निश्चय ही हुई थी।

एक अन्य दिन की घटना है। एक भक्त ने आकर उनसे कहा, "Swami, we are going to have a theatre. It is a very beautiful and well managed play. Let us go." (स्वामीजी, आज एक बहुत सुन्दर तथा सुनियोजित नाटक होनेवाला है। चलिए हम लोग देखने चलें)।

हरि महाराज बोले, "क्या नाटक देखोगे? क्या stage management (मंच-प्रबन्ध) देखोगे? इस जगत् को ही देखो न! यह भी तो एक रंगमंच है। ऐसी रंगशाला तुम्हें और कहाँ मिलेगी? तुम जरा witness (साक्षी) होकर इसका अवलोकन करो, तब देखोगे कि यह कितना मजेदार है। इससे चिपक जाने पर ही विपत्ति है। साक्षी स्वरूप रह पाने पर देखोगे कि इस विश्व रंगशाला में कितने ही तरह के खेल चल रहे हैं। इससे अच्छा नाटक तुम और कहाँ देखोगे?" उन्होंने आगे कहा, "इन सब बातों से कोई लाभ नहीं। आओ हम लोग थोड़ी देर गीता पढ़ें।" यह कहकर वे उन भक्त के साथ गीता का अध्ययन करने लगे।

जब वे स्वामीजी के साथ विदेश-यात्रा कर रहे थे, उस समय की घटना है। हरि महाराज ने एक दिन अपना बटुआ मेज पर रख दिया था। उसे देखकर स्वामीजी बोले, "हरि महाराज, यह क्या? तुमने रुपये-पैसे मेज पर क्यों डाल रखे हैं?" हरि महाराज बोले, "कौन लेगा वहाँ से? रहने दो वहीं!" स्वामीजी गम्भीर होकर कहने लगे, "You have no right to tempt others." (तुम्हें दूसरे को प्रलोभन दिखाने का अधिकार नहीं है।) तब हरि महाराज ने बटुए को उठाया और उसे सँभालकर रख दिया।

स्वामीजी के अमेरिका से भारत लौट आने के बाद, हरि महाराज वहाँ खूब परिश्रम करने लगे। शान्ति आश्रम में उनका जीवन बड़ी कठोरता से परिपूर्ण रहता, जिसके फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। फिर उन्होंने यह भी सुना कि स्वामीजी की तबियत काफी बिगड़ गयी है। अत: वे स्वदेश लौटने को व्यग्र हुए और भारतवर्ष के लिए रवाना भी हो गये। रंगून पहुँचकर उन्हें समाचार-पत्रों से ज्ञात हुआ कि स्वामीजी अब नहीं रहे। यह संवाद पाकर वे अत्यन्त मर्माहत हुए। वे बेलूड मठ पहुँचे और थोड़े दिन ही वहाँ बिताने के बाद तपस्या करने उत्तराखण्ड चले गये।

उस समय उन्होंने ऋषीकेश, मुँगेर, नांगल तथा गढ़मुक्तेश्वर आदि स्थानों में रहकर तपस्या की थी। इन्हीं दिनों एक ब्रह्मचारी उनकी सेवा करने को आग्रही हुए थे। उनकी आपत्ति के बावजूद ब्रह्मचारी ने उनकी सेवा करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप वे क्षुब्ध होकर अपना एकमात्र सम्बल दण्ड तथा कमण्डलु लेकर कुटिया से निकल पड़े। परेशान ब्रह्मचारी के पूछने पर उन्होंने कहा था, "इस कुटिया में दो लोग नहीं रह सकते – या तो मैं रहूँगा या तुम्हीं रहोगे।" विवश होकर ब्रह्मचारी ने अपना प्रयास छोड़ दिया। वे ऐसा ही कठोर जीवन बिताया करते थे।

कुछ दिन वे वृन्दावन में भी थे। उन दिनों वे भोर में चार बजे उठते और कुएँ के जल से स्नान करके ध्यान में बैठ जाते। हम लोगों को कहते, "ध्यान करना क्या सहज बात है? जाड़े के दिनों में सुबह चार बजे कुएँ के ठण्डे जल से स्नान करके ध्यान करने बैठता और थोड़ी देर बाद ही शरीर से पसीना निकलने लगता।" कहते, "एक घण्टा ध्यान करना और चार घण्टे खेत में मिट्टी खोदना – दोनों में बराबर परिश्रम लगता है।" हम लोग सोचते हैं कि आँखें मूँद लेने मात्र से ही ध्यान जम जायगा और भगवान आकर प्रकट हो जाएँगे। परन्तु वस्तुत: ध्यान करने में कितना परिश्रम लगता

है यह हरि महाराज की बातों से ही समझा जा सकता है।

अत्यधिक कठोर तपस्या के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य टूट गया था, इसलिए साधुओं ने उन्हें कनखल सेवाश्रम में रखकर उनकी सेवा की थी। इसके पूर्व वे ऋषीकेश में रहते थे। वहाँ भी वे प्रतिदिन खूब भोर में उठकर जप-ध्यान किया करते। वहाँ एक धनी व्यक्ति सुबह उठकर साधुओं की कुटिया देखते हुए घूमा करता। उसने देखा कि हरि महाराज प्रतिदिन खूब सबरे से ही ध्यान में बैठ जाते हैं। आसपास के सभी लोग हरि महाराज की प्रशंसा करते न थकते। कुछ दिनों बाद वह धनाढ्य व्यक्ति आया और उसने छह हजार रुपये देकर हरि महाराज को प्रणाम किया। हरि महाराज बोले, "मैं इन रुपयों का क्या करूँगा? मुझे कोई आवश्यकता नहीं। बल्कि तुम ये रुपये लेकर कनखल चले जाओ। वहाँ कल्याणानन्द और निश्चयानन्द – इन दो साधुओं ने मिलकर रोगियों के उपचार हेतु एक छोटा-सा सेवाश्रम बनाया है। उन्हें यह धन दे देने से परोपकार में लग जायगा।"

कलखल में कुछ दिन बिताने के बाद वे बेलूड़ मठ लौट आये। वहाँ से वे पुरी गये। पुरी से कुछ अन्य स्थानों का भ्रमण करने के बाद वे वाराणसी आये और अन्त तक वहीं रहे। स्वामीजी के सेवा-आदर्श के प्रति उनका तीव्र अनुराग था। एक बार एक ब्रह्मचारी ने उनसे पूछा, "आप सभी लोग जब इतनी तपस्या कर रहे हैं, तो क्या हम लोगों को भी तपस्या नहीं करनी चाहिए?" उत्तर में वे बोले, "एक दिन दार्जिलिंग में स्वामीजी ने कहा था, 'देखो, इसके बाद यहाँ बहुत-से लोग साधु होने के लिए आएँगे। उनमें में अधिकांश में चौबीसों घण्टे ध्यान करने की क्षमता न होगी। बाकी समय वे कैसे बिताएँगे?' इसीलिये तो स्वामीजी ने सेवा का आदर्श देकर उन सभी को काम में लगाया, ताकि देश का कल्याण हो और उनका अपना भी भला हो।" हरि महाराज कहा करते, "जो कोई भी स्वामीजी का यह कार्य करेगा, वह मुक्त हो जायगा।" वे सेवाश्रम का काम खूब पसन्द करते थे। १९१९-२० ई. में राजा महाराज वाराणसी गये थे। उनके साथ शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) भी थे। शरत् महाराज वहाँ किरण दत्त के मकान में रहते थे और महाराज अद्वैताश्रम की दूसरी मंजिल पर। एक दिन हम सब महाराज के पास बैठे थे। शरत् महाराज भी वहीं थे। महाराज ने उस दिन हरि महाराज के बारे में बहुत कुछ बताया। उन्होंने कहा था, "देखो शरत्! मेरी तो हरि महाराज को प्रणाम करने की इच्छा हो रही है। ऐसे महापुरुष दुर्लभ हैं। देखो न! रोग-व्याधि की बातें भूलकर कैसे आत्मस्थ रहते हैं।" इसके बाद हम लोग तो उठ गये, परन्तु शरत् महाराज सीधे हरि महाराज के कमरे में गये। मधुमेह के कारण हरि महाराज को गर्मी बिल्कुल भी सहन नहीं होती थी। वे अपने कमरे का दरवाजा बन्द रखते थे। शरत् महाराज ने उनके कमरे में प्रवेश करके चरण स्पर्श के साथ उन्हें प्रणाम किया। अन्धकार में साफ-साफ न देख पाने के कारण हरि महाराज ने पूछा, "कौन? कौन?"

शरत् महाराज – "मैं शरत् हूँ।"

हरि महाराज क्षुब्ध होकर बोले, "मैं रोग से प्राय: अन्धा हो चला हूँ, इसीलिए तुमने मुझे परेशान किया!

शरत् महाराज – "भाई, इतने दिनों तक तुम छिपे बैठे थे। आज महाराज ने हमें बता दिया है कि तुम कौन हो और तुम्हारा वास्तविक स्वरूप क्या है!"

शरीर पर उनका असाधारण नियंत्रण था। मधुमेह रोग से कष्ट पाते हुए भी वे आनन्द में रहा करते। प्राय: ही उनके मुख से सुनने में आता, "देह जाने दु:ख जाने, मन तुइ आनन्दे थाक" (दु:ख और शरीर एक-दूसरे को समझें, परन्तु मन! तुम सदा आनन्द में रहो)। फिर वे हिन्दी में उद्धरण दुहराया करते, जिसका अर्थ है – शरीर रहने पर टैक्स देना ही पड़ेगा। ज्ञानीजन उस कष्ट को सहन कर लेते हैं, व्यग्र नहीं होते, परन्तु अज्ञानीजन परेशान हो जाते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अन्तर इतना ही है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, "सुख-दु:ख, शीत-उष्ण – ये सब 'आगमापायी' हैं – आते हैं और चले जाते हैं, चिरकाल नहीं रहते, इसलिए 'तान् तितिक्षस्व' – तुम उन्हें सहन करो।" सहन करने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है। यदि होता, तो श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त अर्जुन को अवश्य बताते।

हरि महाराज का स्वास्थ्य बहुत खराब होने पर भी वे उतावले या विचलित नहीं होते थे। अन्तिम दिनों में उनकी पीठ में 'कार्बंकल' (विषाक्त फोड़ा) हुआ था। सर्जन ने अस्त्रोपचार (आपरेशन) करने हेतु (बेहोश करने के लिए) क्लोरोफार्म देना चाहा, परन्तु उन्होंने मना कर दिया।

परन्तु सर्जन के छुरी लगाने पर वे चौंककर उछल पड़े। उन्होंने सर्जन से कहा, "मुझे बतलाये बिना चीर-फाड़ न करें। पहले मुझे बतला दें।"

सर्जन ने कहा, "अच्छी बात है, अब मैं छुरी चलाऊँगा।"

हरि महाराज – "ठीक है, मुझे थोड़ा समय दें।"

कुछ क्षणों के बाद ही हरि महाराज बोले, "अच्छा, अब आप चीरफाड़ कर सकते हैं।" डॉक्टर ने छुरी लेकर फोड़े को काटा, दबाकर मवाद निकाला और घाव के भीतर गाज घुसाया। हरि महाराज जरा-सा भी न सिहरे। ऐसा लग रहा था – मानो डाक्टर केले के पेड़ पर चीरफाड़ कर रहे हों। सर्जन का काम पूरा हो जाने पर उन्होंने पूछा, "हो गया?"

डॉक्टर "जी हाँ।"

हरि महाराज की ऐसी सहनशक्ति देखकर डॉक्टर अवाक् रह गये। वे सोचने लगे – जो व्यक्ति शुरु में छुरी लगाने पर

उछल पड़ा था, वह इतनी पीड़ा भला कैसे सह सका? देख कर ऐसा लगा मानो हरि महाराज ने मन को देह से अलग कर लिया था; जैसे सूखे नारियल में खोपड़े के साथ गरी का सम्पर्क नहीं रहता, ठीक वैसे ही हरि महाराज ने देह के साथ मानो अपनी आत्मा का सम्पर्क विच्छिन्न कर लिया था। और इसी कारण शरीर पर चीर-फाड़ होने पर भी उन्हें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं हुआ।

हरि महाराज बड़े सद्भाव-सम्पन्न तथा सीधे-सादे स्वभाव के व्यक्ति थे। फिर दूसरी ओर वे खूब कठोर भी हो जाते। साधन-भजन में कोई गलती होने पर वे खूब डाँटते। समय के वे बड़े पाबन्द थे। वे चाहते कि सभी कार्य समय पर और ठीक-ठीक हो। एक घटना है। उन्हें अपराह्न में चार बजे दूध दिया जाता था। एक दिन वे खाट पर बैठे थे। सामने दीवार पर घड़ी थी। सेवक जब दूध लेकर कमरे में आया, तब घड़ी में चार बजकर एक या डेढ़ मिनट हो चुका था। मुख से कुछ न कहकर उन्होंने सिर्फ घड़ी की ओर देखा। सेवक दूध लेकर चुपचाप खड़ा रहा। उसके हाथ-पाँव काँप रहे थे। उन्होंने दूध नहीं पीया। वे समय के इतने पाबन्द थे!

अमेरिका में वे कहते, "जो मेरे शरीर की सेवा करते हैं, मैं उनकी आत्मा की सेवा करता हूँ। मुझे उनकी आत्मा के कल्याण की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। इसीलिए बीच-बीच में उन्हें डाँट-फटकार भी लगानी पड़ती है। एक सेवक बड़े भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करता था। उसके मन में आया कि ये कैसे साधु हैं, जो इतना डाँटते-फटकारते हैं। एक दिन वह पूछ ही बैठा, "You are a sannyasin. How is it that you become so restless and you lose your temper?" (एक संन्यासी होकर भी आप इतने चंचल तथा क्रोधित क्यों हो जाते हैं?) हरि महाराज उससे बोले, "देखो, तुम लोग तो अपने ही आदमी हो। मैं जो तुम्हें डाँटता हूँ, वह तुम्हारी ही भलाई के लिए है। परन्तु यदि तुम सहन नहीं कर पाते, तो ठीक है, मैं कल से तुम्हें कुछ नहीं कहूँगा।" बाद में वह सेवक बताया करता, "कितने आश्चर्य की बात है! उस दिन के बाद उन्होंने मुझे एक बार भी नहीं डाँटा। अचानक ही मानो वे बिल्कुल बदल गये।" इससे यह समझ में आ जाता है कि वे अपने सेवकों के कल्याणार्थ ही उन्हें डाँटते-फटकारते थे। डाँट-फटकार करना उनके स्वभाव में न था।

वे हम लोगों से कहते, "देखो, मैं कभी भी सहारा लेकर नहीं बैठा। अभी जैसे इस हत्थेवाली कुर्सी पर बैठा हूँ, ठीक वैसे ही सदा मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठता रहा हूँ। इस समय मैं जैसे बैठा हुआ हूँ, वैसे ही बैठना।" वे बिस्तर के बीच में सीधे होकर बैठते। उन्होंने कहा था, "जिस दिन से मैंने साधन-भजन शुरू किया, उसी दिन से इस प्रकार मेरुदण्ड को सीधा रखकर आसन में बैठा हूँ। कभी सहारा लेकर नहीं बैठता।" अन्तिम दिनों में भी यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था और उन्हें लेटे रहना पड़ता, तो भी वे सेवकों से उसी प्रकार सीधा बैठा देने को कहते। सेवकों को वैसा करने का साहस न होता, क्योंकि इससे उनकी हृदयगति के रुक जाने की आशंका थी। अन्तिम दिन जब सेवक उन्हें बैठाने को राजी न हुए, तो वे नाराजगी के स्वर में बोले, "देखते नहीं प्राण निकले जा रहे हैं और तुम लोग मुझे बैठाते नहीं।" सम्भवत: उनकी इच्छा थी कि बैठे-बैठे ही देहत्याग करें। ❑❑❑

सुख-दुख दोनों मिथ्या भ्रम हैं

पुरुषोत्तम नेमा
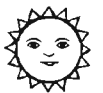
न तो भव में दुख ज्यादा है,
और न सुख की मात्रा कम है;
दोषरहित प्रभु का विधान है,
हास्य-रुदन की मात्रा सम है।
रोग एक है 'मैं-मेरा' का
जिसकी औषधि केवल 'हम' है।।

हर पदार्थ में, हर प्राणी में,
अंश उसी का चमक रहा है,
अज्ञानी परदों के भीतर
तप्त स्वर्ण-सा दमक रहा है,
किसी अन्य का प्रश्न नहीं है
'एकोऽहं' में सब निर्मम है।।

बार-बार हम प्रभु से छिटके
अन्त हीन है उसकी माया,
कर्मजाल में हमें फँसाकर,
मन को उसने मलिन बनाया;
नाम-मंत्र से विमल बनें हम
सुगम सभी को, श्रम भी कम है।।

वह पीड़क है - यह पीड़ित है
इस भव-भ्रम को तजें अभी हम,
यह नश्वर है, क्षण-जीवी है,
राम-कृष्ण को भजें सभी हम,
ममतामयी सारदा माँ में,
पुलकित होता अन्तर्तम है।।

❑❑❑

जप की साधना

स्वामी यतीश्वरानन्द

रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, वे अंग्रेजी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने उन्हीं में से कुछ चुने हुए अंशों का संकलन तथा हिन्दी में अनुवाद किया था, जो नागपुर मठ द्वारा 'धर्म-जीवन तथा साधना' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत है उसी से साधना विषयक कुछ अंश – सं.)

जप क्या है

भगवान के नाम का बार-बार उच्चारण करना जप कहलाता है। जप के शब्द द्वारा प्रतिपादित वस्तु का विचार मन में उत्पन्न होना चाहिए। जप दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो मंत्र के उच्चारण के साथ-साथ परमात्मा के विभिन्न गुणों का चिन्तन किया जा सकता है, अथवा केवल एक ही गुण या इष्टदेवता के रूप का ध्यान मात्र किया जा सकता है। शुरू में विचारों को नियंत्रित करने का यह प्रयत्न मानसिक तनाव पैदा कर सकता है। परन्तु नियमित रूप से जप का अभ्यास करने पर लम्बे समय तक मन को एकाग्र करने में सफलता मिलती है। ज्यों-ज्यों हम साधना में आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों मनोनिग्रह स्वाभाविक होता जाता है; और अन्त में बिना प्रयास ही ध्यान होने लगता है। यह समस्त कामनाओं के नष्ट हो जाने पर ही सम्भव हो पाता है।

नाम की शक्ति

प्रारम्भ में जब हमें एक बीज दिया जाता है, तो हम उसकी महान् सम्भावनाओं से अपरिचित होते हैं। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों हम देखते हैं कि उस बीज में एक विशाल वृक्ष निहित था। परन्तु बीज के विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसे पूरा जल और खाद मिले। इसी प्रकार भगवान के नाम में भी महान् सम्भावनाएँ छिपी हैं। अपने इष्टदेव का एक चित्र अपने पास रखो। सोने के पहले उस चित्र को देखकर सोओ और जब जागो, तो सब से पहले उसी चित्र को देखो। सोते-जागते – दोनों समय मन को अपने इष्टदेव के विचारों से भर लो और अन्य किसी व्यक्ति या वस्तु की बात मन में न आने दो। शुरू में साधक के लिए ऐसा करना आवश्यक है। सन्त रामप्रसाद के एक भजन में है – हे मन, तुम अपनी साधना-रूपी पौधे के चारों ओर कालीनाम की बाड़ क्यों नहीं लगा देते?" पहले तो भगवान् का नाम हमें मात्र एक शब्द प्रतीत होता है, पर धीरे-धीरे हमें पता चलता है कि उसमें सूक्ष्म शक्ति है और वह हमें भगवान तक पहुँचा देता है। हम पहले-पहल उसकी अनन्त सम्भावना को नहीं जान पाते। जब हम कुछ समय तक नियमित रूप से अभ्यास करते हैं, तो हमारा मन कुछ संयमित तथा अनुशासित होता है, पर तब भी बीच-बीच में वह दुष्ट घोड़े के समान दुलत्ती मारने की चेष्टा करता है।

नाम में विश्वास

मंत्रजप का अभ्यास शुरू करने के लिए विश्वास परम आवश्यक है। यदि जप कुछ मात्रा में यंत्रवत् हो जाए, तो भी कोई हानि नहीं है। नये साधक की चेतना का केन्द्र निरन्तर बदलता रहता है। कभी वह निम्न स्तर पर रहता है, तो कभी उच्च स्तर पर। सभी साधकों के लिए यह अवस्था बहुत कष्टप्रद होती है। ध्यान का अभ्यास या जप करते समय तुम्हें स्वयं पर निद्रा या तन्द्रा का असर नहीं होने देना चाहिए। निद्रा-तन्द्रा का ध्यान के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। यदि जप करते समय तुम्हें नींद बहुत सता रही हो, तो उठ जाओ और कमरे में थोड़ी चहल-कदमी कर लो; इससे सुस्ती दूर हो जायगी।

शुरू-शुरू में मन की सामान्यत: दो अवस्थाएँ होती हैं। एक में मन अत्यन्त चंचल रहता है, दूसरी में वह अचेतन स्तर पर गिर जाता है। वास्तविक प्रगति के लिए तुम्हें इन दोनों अवस्थाओं से बचना होगा।

यदि तुम्हारा मन बहुत चंचल और बहिर्मुखी हो, तो खूब दृढ़ता और धैर्यपूर्वक जप करते रहो, भले वह यंत्रवत् ही क्यों न हो। मन की इस चंचलता के सामने हार मत मानो। ऐसा करने से मन का एक भाग सदा ही जप में संलग्न रहेगा। इस प्रकार समूचा मन न तो चंचल बनेगा, न रह सकेगा।

दूसरी अवस्था निद्रा की है, जो अत्यन्त हानिकारक है; और हर हालत में उससे बचना चाहिए। कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनके लिए ध्यान में बैठना मानो नींद को आमंत्रण देना है। चंचल, अति बहिर्मुखी मन इससे कहीं बेहतर है। एक तमोगुण है, दूसरा रजोगुण; और तमोगुण रजोगुण से निम्न होता है। अत: आध्यात्मिक जीवन में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता।

जप नियमित रूप से करो

अभ्यास का एक नियत क्रम होना चाहिए। भगवान के नाम का जितनी बार हो सके जप करो। जप की एक न्यूनतम संख्या निर्धारित कर लो। फिर चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न आए, जप की यह संख्या अवश्य पूरी करो। सुबह जब तक अपनी न्यूनतम साधना पूरा न कर लो, तब तक भोजन का स्पर्श न करो। इस नियम में किसी भी प्रकार की बाधा न आने दो।

कठोर नियमबद्धता और निश्चित दिनचर्या सभी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए बहुत आवश्यक है। साधक के जीवन में

गहरे चिन्तन की भी काफी आवश्यकता होती है। समयानुसार यह सब स्वाभाविक हो जाने पर, समुचित मन:स्थिति स्वयं ही पैदा हो जाती है और सब कुछ सहज हो जाता है। एक बार आदत हो जाने पर तुम्हें इन साधनाओं का बोझ भी कम मालूम होगा और तुम प्रगति भी अधिक कर सकोगे।

इस पथ पर सभी कुछ कठिन है। मानस-पटल पर भगवान के रूप की कल्पना करना कठिन है, मन का निग्रह कठिन है और ध्यान भी कठिन है। किन्तु ठीक-ठीक अभ्यास करने से यह कठिनाई कम हो जाती है। इसीलिए नयी शक्ति अर्जित करने की आवश्यकता होती है। शब्द और मंत्र की महान् शक्ति का उपयोग करो। मानव एक मनोवैज्ञानिक प्राणी है। जैसे हमारा यह मन सदा हमें छलने के लिए तैयार रहता है, वैसे ही हमें भी सदैव उच्चतर उपायों की सहायता से इस मन को जीतने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

यह अनुभव करने का प्रयत्न करो कि भगवन्नाम या इष्टमंत्र तुम्हें पवित्र करता है। थोड़े प्रयत्न से ही तुम यह अनुभव करने लगोगे। यह प्रयोग स्वयं करो। जो कुछ भी तुम्हें बताया जाता है, उसे स्वयं परखकर देखो। यदि सत्यों का साक्षात्कार तुम स्वयं न कर पाओ, तो बेहतर यह होगा कि सारी धार्मिक पुस्तकें जला दी जाएँ और सारे धर्मशास्त्र समुद्र में फेंक दिये जाएँ।

जप के महान् प्रभाव को तुम तत्काल नहीं जान सकोगे। इष्टमंत्र का लयपूर्ण जप बड़ा प्रभावी होता है। नये साधक के लिये यह सबसे महत्त्वपूर्ण साधना है। 'ॐ' एक बहुत मधुर स्पन्दनशील अक्षर है, अत: हमें उसकी सहायता लेनी होगी।

सदा शब्द-प्रतीक की सहायता लो, क्योंकि शब्द और विचार परस्पर जुड़े होते हैं। विचार विभिन्न ध्वनियों द्वारा प्रकट होते हैं। ध्वनि तथा विचार में अनादि सम्बन्ध है। यथा 'गाय' शब्द को ही लो। हम 'गाय' नामक 'पदार्थ' को विभिन्न ध्वनि-प्रतीकों (शब्दों) द्वारा व्यक्त करते हैं। हर भाषा में 'गाय'-विचार को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न ध्वनि-प्रतीक हैं। इन सभी शब्दों द्वारा गाय का भाव प्रकट होता है। इस भाव और उसके शब्द-प्रतीकों में अभिन्न सम्बन्ध है।

अत: हम देखते हैं कि ईश्वर का विचार विभिन्न नामों के रूप में व्यक्त होता है तथा दिव्य भाव और शब्द में अभिन्न सम्बन्ध है। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन में हम शब्द-प्रतीकों (मंत्रों) का उपयोग करते हैं। वाणी अर्थात् ध्वनि की सहायता से मन में विचार उठाना सरल हो जाता है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि हम शब्द से भाव को प्राप्त करें, अन्यथा शब्द का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं होगा।

जप

कल्पना करो कि भगवान के नाम या अपने इष्टमंत्र के हर उच्चारण के साथ तुम्हारा शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ पवित्र हो रही हैं। इस विश्वास को खूब दृढ़ कर लेना चाहिए, क्योंकि जप के मूल में यही भाव निहित है। इष्टमंत्र स्नायुयों तथा मन को शान्त कर देता और शरीर में अनुकूल परिवर्तन लाता है। जब मन खूब उद्विग्न और खिन्न हो, तो भगवान का नाम लो और उनका चिन्तन करो। ऐसा करते हुए कल्पना करो कि इससे तुम्हें सन्तुलित अवस्था प्राप्त हो रही है तथा शरीर और मन में एक नवीन प्रवाह बहने लगा है। इस अभ्यास से शीघ्र ही तुम अनुभव करोगे कि तुम्हारा पूरा स्नायु-मण्डल शान्त हो गया है और मन की बाह्य प्रवृत्तियाँ भी घट गयी हैं। सोचो कि इष्टमंत्र या भगवन्नाम के प्रत्येक जप के साथ तुम अधिकाधिक पवित्र होते जा रहे हो। इस अभ्यास का फल भले ही तत्काल नहीं दीखता, पर कुछ काल निरन्तर दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते रहने से तुम अपने अन्दर एक अभूतपूर्व परिवर्तन देख पाओगे। यह प्रयोग के लिए एक अच्छा क्षेत्र है। अभ्यास के द्वारा शरीर, मन और प्राण को एक लय में लाना चाहिए। केवल तभी हम साधना और ध्यान के लिए यथार्थ मनोभाव ला सकेंगे।

बाह्यपूजा पहली सीढ़ी है। इसके बाद साधक को जप-ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और अन्त में बन्द या खुले नेत्रों से ब्रह्म की सर्वत्र अनुभूति करनी चाहिए। यही सर्वोच्च अवस्था है, पर इसे पाने के लिए साधक को क्रमश: पहले की अवस्थाओं को पार करना ही होगा।

परीक्षा के क्षणों में मंत्र का जप

यदि तुम्हारे मन में तूफान उठ रहा हो और तुम्हारे पाँव लड़खड़ा रहे हों, तो भी जप करते रहो। यदि आवश्यक हो, तो मंत्र का उच्चारण करो – कम-से-कम इतनी जोर से कि तुम्हें सुनायी पड़े। मन की अशान्त अवस्था में मानसिक जप प्राय: यथेष्ट नहीं होता। मंत्र और उससे अभिव्यक्त दिव्य भाव के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करो, ताकि मंत्र का उच्चारण करते ही वह भाव सामने आ जाए। जब तुम टाइपराइटर पर कुछ टंकण करते हो, तब ऐसा ही होता है। जैसे ही तुम उसकी चाबी को छूते हो, वैसे ही तत्सम्बन्धी अक्षर कागज पर छप जाता है। इसी प्रकार जैसे ही तुम अपने मंत्र का उच्चारण करो, उससे जुड़ा भाव तत्काल उठकर तुम्हारी सहायता करे। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि नित्य नियमित अभ्यास के द्वारा इन दोनों के बीच एक सुदृढ़ सम्पर्क स्थापित कर लिया जाय।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जप एक जंजीर के समान है, जिसकी एक कड़ी से दूसरी कड़ी पर होते हुए हम अन्त में ईश्वर तक पहुँच जाते हैं।" साधना के सभी प्रकारों में जप पर जोर दिया गया है। प्रयत्न करो कि तुम्हारे जप का स्तर क्रमश: ऊपर उठता रहे। तुम्हें बड़ी सावधानीपूर्वक जप करना होगा और धीरे-धीरे उसकी संख्या बढ़ाते रहनी होगी।

जंजीर का हमेशा ध्यान रखो और उसकी अगली कड़ी को पकड़ने की चेष्टा करो। इस प्रकार तुम ईश्वर के अधिक निकट पहुँच सकोगे और ध्यान करने के योग्य बन जाओगे।

जप-साधना में सहायक कुछ सुझाव

(१) सतत भगवच्चिन्तन : हमें कुछ हद तक अपने मन को बाँटना आना चाहिए। मन में एक ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता है कि चाहे हम किसी भी कार्य में रत क्यों न हों, इसके एक भाग को हम प्रभु में लगाये रख सकते हैं। यह अपने आप में एक बड़ी साधना है। जागतिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी मन को सांसारिक विचारों या लौकिक सम्बन्धों या आसक्तियों में फँसने से रोककर उसे ईश्वर-चिन्तन में लगाये रखना, उसे लक्ष्य के स्मरण में बाँधे रखना – यह आध्यात्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है।

(२) सब कुछ प्रभु की आराधना है : अथक और सतत अभ्यास के द्वारा हम ऐसी मनोवृत्ति बना सकते हैं, जो हमें यह सोचने और अनुभव करने दे कि हम जो कुछ करते हैं, वह प्रभु की ही सेवा है और हमें अपने कार्य के फल पर कोई अधिकार नहीं है, "**यद्-यद्-कर्म करोमि तद्-तद्-अखिलं शम्भो तवाराधनम्**।" (हे भगवन्, मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वह सब-का-सब तुम्हारी ही उपासना है।) यह सेवा स्थूल, मानसिक या आध्यात्मिक भी हो सकती है।

(३) सोते समय जप करो : साधना के दौरान, सर्वप्रथम, एक आवश्यक बात याद रखनी चाहिए – दोपहर के भोजन के बाद, लगभग दो बजे हम सभी को अपने कार्य से (मानसिक) विश्राम के लिए थोड़ा समय निकाल लेना चाहिए। यह बड़ा उपयोगी है, पर अनेक लोगों के लिए यह करना बड़ा कठिन होता है। अपनी चेतना में जरा-सा बदलाव लाकर और मन की तीव्र गतिशीलता के बीच उसे कुछ देर के लिए विश्राम देकर पुन: भगवन्नाम और पवित्र मंत्र के सुमधुर स्पन्दनों से उसे पूरित करते रहना चाहिए। लेकिन बहुत-से लोगों के लिए यह सम्भव नहीं होता। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लेटने या सोने के पूर्व हम उपन्यास, किस्से, कहानी आदि हल्की सामग्री कभी न पढ़ें। उस समय हमें किसी पवित्र विचार अथवा किसी दैवी शब्द का चिन्तन करते रहना चाहिए। उस समय हम भगवान की गोद में सो रहे हैं या ऐसा ही कोई अन्य विचार मन में उठाया जा सकता है। सोने के पूर्व हम अपने पूरे अन्त:करण को इस दिव्य विचार और ईश्वरीय चेतना से भर लें। यदि सोने के पूर्व हम निम्न कोटि का साहित्य पढ़ेंगे, तो वह निद्रा के समय हमारे अचेतन मन में कार्य करता रहेगा, जिसका बहुत बुरा असर पड़ेगा। संध्या के समय हम अपने मन को किन विचारों में व्यस्त रखते हैं, या मन को किस प्रकार तल्लीन रखते हैं – इस पर भी कड़ी निगरानी रखनी चाहिए। उस समय शान्ति और एकाग्रतापूर्वक ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए। ईश्वर के रूप, या नाम, या ध्वनि (भजन-कीर्तन आदि) या तीनों का एक साथ चिन्तन, जो सबसे प्रभावशाली है, होना चाहिए। इस प्रकार ही हम अपने अचेतन मन में परिवर्तन लाने में सफल होंगे। सोने के पहले विषयी साहित्य पढ़ना बड़ा हानिकारक है। इस विषय में लापरवाही बरतने से हम स्वयं को बहुत हानि पहुँचाते हैं, वैसे सामान्यत: हमें इसकी कल्पना तक नहीं होती। नींद में अचेतन मन किस प्रकार कार्य करता है, इस पर सदा निगरानी रखनी चाहिए, क्योंकि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ एक अन्य बात का भी उल्लेख कर देना उचित होगा। यदि रात को नींद खुल जाय, तो तत्काल चुपचाप बिना व्यर्थ परिश्रम के जप शुरू कर दो। किन्तु साधनाकाल में जप और निद्रा को कभी एक-दूसरे से मत जोड़ो। यह अच्छा नहीं। सोने के पहले १०० या १००० जप करो और स्वयं को दिव्य मंत्र से परिपूर्ण कर लो। ध्यान रहे कि निश्चित संख्या पूरी होने तक जप चलता रहे – बन्द न हो।

(४) नियमितता : अच्छी आदतों का निर्माण करना चाहिए और उन्हें सुदृढ़ बनाना चाहिए। इससे आध्यात्मिक जीवन सहज हो जाता है और उसका प्रारम्भिक तनाव भी चला जाता है। अपनी दिनचर्या का कड़ाई से पालन करो। बाद में, मन के बहुत चंचल होने पर भी ध्यान करना सम्भव हो जाता है। अपनी साधना के विषय में पूरी नियमितता बरतनी चाहिए, क्योंकि इसी प्रकार मन साधना का अभ्यस्त हो पाता है। प्रतिदिन कुछ न्यूनतम जप-ध्यान हर हालत में करना ही चाहिए। प्रारम्भिक साधक को साधना का समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। जिस साधक ने कुछ प्रगति कर ली है, उसके मन में भक्ति का एक अन्त:प्रवाह बहता रहता है, जो उसके मन के एक भाग को सदा ईश्वर-चिन्तन में लगाये रखता है, चाहे वह किसी भी कार्य में रत क्यों न हो। जब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक सभी साधकों को अपनी आध्यात्मिक दिनचर्या में कठोर नियमितता का पालन अत्यन्त सतर्कतापूर्वक करना चाहिए।

(५) सत्संग : इस पथ के सहयात्री एक दूसरे के सहायक हो सकते हैं, इसीलिए सत्संग का इतना महत्त्व है। आपसी स्नेह तथा सहयोग होना चाहिए, क्योंकि इससे हमें अपनी शक्ति और प्रयास को बनाये रखने में सहायता मिलती है। हमें कभी गुरु बनने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। बल्कि यदि सम्भव हो, तो गुरु का स्थान लिये बिना ही दूसरों को सहायता प्रदान करते हुए विद्यार्थियों के बीच विद्यार्थी बने रहना चाहिए। अपनी सीमा के भीतर रहकर ऐसा करना सदा सुरक्षित है। तब हम दूसरों तथा स्वयं के लिए हानिकारक

नहीं बनेंगे। तब हममें गुरुभाव उदित होकर स्वयं हमको या दूसरों को भी हानि नहीं पहुँचा सकेगा।

हमें बड़प्पन के भाव को नहीं, अपितु – "मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री हो" – इसे अपनाना चाहिए। दूसरों का नेतृत्व करने से पूर्व समर्पण और भक्तिभाव से दूसरों की सेवा करना सीखो। कई बार हम उपयुक्त परीक्षा के बिना नेतृत्व करना चाहते हैं। हम पूरी कीमत चुकाये बिना फल प्राप्त करना चाहते हैं।

छोटी भक्त-मण्डली का यह लाभ है कि उसमें इन स्पष्ट निर्देशों का पालन सहज होता है। प्रारम्भिक साधक होने पर भी ऐसी छोटी मण्डली में सहज ही सच्ची सद्भावना की वृत्ति होती है। उनमें पीठ पीछे बुराई नहीं होती। पहले तीव्र और केन्द्रित रूप से कार्य करना चाहिए और बाद में व्यापक क्षेत्र में कार्य करना चाहिए। यही श्रेष्ठ नियम है।

(६) प्रार्थना : एक सुन्दर प्रार्थना है – "प्रभु, मेरे छह मांझी (षड्रिपु) बड़े चंचल हैं। मेरी पतवार तुम अपने हाथों में ले लो। मेरी नाव उस पार लगा दो। तुम मेरी नौका के खिवैया बन जाओ।" भगवान श्रीकृष्ण का सन्देश ऐसे आलसी और प्रमादी लोगों के लिये नहीं है, जिनकी साधना में पूरी निष्ठा नहीं है। सच्चा धर्म सक्रिय और गतिशील होता है, उसमें अकर्मण्यता नहीं होती। इसीलिए श्रीकृष्ण के सन्देश में पौरुष है, ओज और शक्ति है। साधना में गतिशीलता के साथ नैतिक नियमों का कट्टरता से पालन भी होना चाहिए। इसी को सच्ची धार्मिकता कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में विवेक, वैराग्य और मुमुक्षा के समान दूसरी सम्पत्ति नहीं है। तभी तो श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "सर्वदा सत् और असत् का विवेक करो। सदैव विचार करो कि एकमात्र ईश्वर ही सत् है और बाकी सब कुछ असत् और अनित्य है। व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो।"

गीता में भगवान् स्वयं युद्ध में भाग नहीं लेते, पर वे युद्ध करनेवाले अर्जुन के सखा और मार्गदर्शक हैं। हम भगवान को हमारे अपने लिए युद्ध करने को न कहें, पर उनसे युद्ध के लिए प्रेरणा और शक्ति की याचना करें। वे अर्जुन के समान ही हमारे भी सखा और सारथी बनें।

तुम्हारे पास जो कुछ है, उसका स्वामित्व प्रभु को सौंप दो और उनके मुनीम बनकर कार्य की देखभाल करो। हमारे पास चाहे जितनी भी सम्पत्ति क्यों न हो, हममें उसके प्रति अधिकार की भावना न हो।

(७) भजन-संगीत : भारत के महानतम संगीतकार तानसेन के बारे में एक सुन्दर कथा है। एक दिन जब वे जंगल में अकेले बैठकर गा रहे थे, तभी बादशाह अकबर उधर से आ निकले। उन्होंने तानसेन का गाना सुना। उसे सुनकर बादशाह मुग्ध हो गये, क्योंकि उन्होंने तानसेन को अपने दरबार में इतनी तन्मयता तथा मधुरता से गाते हुए कभी नहीं सुना था। उन्हें थोड़ा बुरा भी लगा। सामने आकर उन्होंने पूछा, "तुम इतना सुन्दर गान मुझे क्यों नहीं सुनाते?"

तानसेन बोले, "यह मेरे लिए भला कैसे सम्भव है? अभी मैं उसके लिए गा रहा था, जो आपकी तुलना में अनन्त-गुना महान् है और जो मेरा परम प्रियतम है।"

"मुझसे भी महान्? कौन है वह?" – अकबर ने पूछा।

तानसेन ने उत्तर दिया, "परमात्मा, मेरा प्रियतम। जब मैं आपको संगीत सुनाता हूँ, तब मैं आपकी आज्ञा का पालन मात्र करता हूँ और इससे मुझे अपना पारिश्रमिक मिल जाता है। आपके सामने मैं अपना हृदय खोलकर नहीं गा पाता, पर जब मैं समस्त सृष्टि का स्वामी के लिए गाता हूँ, तो उनके समक्ष मैं अपना सम्पूर्ण हृदय उड़ेल देता हूँ।"

साधक और भक्त के जीवन में उत्तम कोटि का भजन या संगीत काफी महत्त्व रखता है। ❑ ❑ ❑

(धर्मजीवन तथा साधना, पृ. १५३-१६२)

जप-ध्यान की साधना

चाहे जितने समय, १०-१५ मिनट भी जप-ध्यान करो, वह भी अच्छा है, पर उसे पूरी तन्मयता से करो। वे अन्तर्यामी हैं, भीतर देखते हैं; जप कितनी संख्या में या ध्यान कितने समय किया, यह नहीं देखते। शुरू में जप-ध्यान नीरस लगता है, तथापि दवा निगलने के समान किये जाओ। ३-४ वर्ष निष्ठापूर्वक करने पर आनन्द मिलने लगेगा। तब एक दिन भी न करने पर बड़ा कष्ट होगा, अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा।

जप के समय इष्टमूर्ति का ध्यान भी जरूर करो, नहीं तो जप जमता नहीं। पूर्ण मूर्ति ध्यान में न आने पर भी, जितना आये, उसी से शुरू करो। न हो, तो बार-बार चेष्टा करो। मैं छोड़ूगा नहीं – इस दृढ़ता के साथ करना होगा। ध्यान क्या सहज ही हो जाता है? मन को अन्य विषयों से पूरी तौर से खींचकर ध्येय वस्तु में स्थिर रखने की बार-बार चेष्टा करनी होगी; तब धीरे-धीरे होगा।

शुरू में मन में स्पष्ट उच्चारण करते हुए धीरे-धीरे जप करना पड़ता है।... शायद घण्टे में २-३ हजार से ज्यादा नहीं होता। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर घण्टे में आठ-दस हजार भी अनायास ही हो जाता है। जप करते समय मन को मंत्र और उसके प्रतिपाद्य – इष्ट पर एकाग्र करने की चेष्टा करनी चाहिए। – ***स्वामी विरजानन्द***

(परमार्थ प्रसंग ७-८, ११-१२, ५९)

मस्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

जनवरी २०१३ के अंक में प्रकाशित 'ध्यानसिद्ध स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक लेख में हमने देखा कि स्वामीजी के मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति ध्यान तथा समाधि की ओर थी। परन्तु ईश्वर की विशेष इच्छा से जगत्-कल्याण हेतु उन्हें ध्यान के लिये उपयुक्त परिवेश नहीं मिल पाता था। उनके इस प्रयास को मानो कोई दैवी शक्ति बारम्बार विफल कर देती थी। साथ ही उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का आदेश भी था कि जगत के कल्याणार्थ उनका कार्य पूरा हो जाने पर उनके ध्यान तथा समाधि का ताला स्वयं ही खुल जायगा। बाद में न्यूयार्क से २५ जनवरी, १८९६ को वे एक पत्र में लिखते हैं, "मेरे पास एक नोटबुक है, जिसने मेरे साथ सारे संसार की यात्रा की है। सात वर्ष पहले उसमें लिखा हुआ है, 'अब एक ऐसा निर्जन स्थान मिले, जहाँ मैं मृत्यु की प्रतीक्षा में पड़ा रह सकूँ!' "[१] सात वर्ष पूर्व अर्थात् १८८८-८९ ई. में या उससे भी काफी पूर्व से ही स्वामीजी ध्यान और समाधि के लिये उपयुक्त किसी एकान्त स्थान की खोज कर रहे थे। अनेक उच्च कोटि की आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्राप्ति के बावजूद मुख्यत: दीर्घ काल तक निरन्तर ध्यान में डूबे रहने के लिये एक उपयुक्त स्थान की खोज के लिये ही उनकी यह हिमालय-यात्रा की योजना थी।

स्वामीजी का एक मित्र उन दिनों नेपाल के राजा का और उनके स्कूल का शिक्षक था। स्वामीजी की प्राथमिक योजना थी – उस मित्र की सहायता से नेपाल जाना और वहाँ से तिब्बत में प्रवेश करने का अनुमति प्राप्त करना।[२] परन्तु गंगाधर के साथ पत्र-व्यवहार से उनकी समझ में आया कि बदरिकाश्रम और उसके आसपास का कोई स्थान ही उनकी ध्यान-साधना के लिये सर्वाधिक उपयुक्त स्थान होगा।

स्वामीजी के हिमालय जाने के प्रथम प्रयास के रूप में हमने देखा कि १८८८ ई. के अन्त में वे हाथरस से अपने एक शिष्य शरत्चन्द्र (स्वामी सदानन्द) के साथ ऋषीकेश तक गये, परन्तु शिष्य की अस्वस्थता के कारण उन्हें वहीं से लौट आना पड़ा था। १८९० ई. के प्रारम्भ में कई महीने गाजीपुर बिताकर वे कलकत्ते लौट आये थे। उनके गुरुभाई गंगाधर (अखण्डानन्दजी) उस समय काश्मीर में थे। स्वामीजी गाजीपुर से ही पत्र लिखकर उन्हें बुला रहे थे, ताकि वे उनके साथ हिमालय की यात्रा पर जा सकें। गंगाधर आखिरकार ९ जून १८९० को कलकत्ते आ पहुँचे।

गंगाधर की यात्रा : एक सिंहावलोकन

एक बार बातचीत के दौरान गंगाधर महाराज ने अपनी इस यात्रा के विषय में बताया था, "मैं उत्तराखण्ड का भ्रमण करने निकला था। तिब्बत आदि घूम रहा था। दो-तीन वर्ष इन लोगों (मठ के साधुओं) को कोई पत्र नहीं लिखा। ये लोग मेरे विषय में बड़ी चिन्ता करते थे, कभी सोचते कि पहाड़ से गिर गया होगा या बाघ आदि मुझे खा गये होंगे। उसके बाद मैं गंगोत्री आया। वहाँ का जल मैंने मठ में ठाकुर के लिए भेजा। उसी से इन लोगों को मेरा थोड़ा-सा आभास मिला था। इसके बाद देवप्रयाग में ठाकुर के भक्त कोन्नगर के नवाई चैतन्य से भेंट हुई। वह मुझे देखकर बड़ा आनन्दित हुआ। वही वराहनगर में और उसके बाद अब देवप्रयाग में मुलाकात! अस्तु। इसके बाद मैं भूस्वर्ग काश्मीर गया। वहाँ से मैंने स्वामीजी को पत्र लिखा। तब वे गाजीपुर में थे।

"उन दिनों मेरी तुर्की, मध्य एशिया आदि घूमने की बड़ी इच्छा थी। अंग्रेज सरकार का रेजीडेंट मुझे उन सब देशों में घूमकर उन्हें सूचना देने के लिए गुप्तचर का पद देने आया था।... मैंने उस प्रस्ताव को घृणापूर्वक खारिज कर दिया।

"इसके बाद स्वामीजी ने गाजीपुर से काश्मीर में मुझे बारम्बार पत्र लिखा – गंगा, तुम्हें बहुत दिनों से देखा नहीं, देखने की बड़ी इच्छा हुई है, चले आओ। उन्होंने और भी लिखा – तुमने उत्तराखण्ड का काफी भ्रमण किया है, तुम्हें बहुत से निर्जन पहाड़ ज्ञात हैं। मेरी इच्छा है कि बीच में कहीं न घूमकर, तुम्हारे साथ उत्तराखण्ड के किसी पहाड़ पर जाकर तपस्या में बिलकुल मग्न हो जाऊँ। तपस्या से बढ़कर और कोई शान्ति नहीं है। तुम भी मेरे साथ रहकर तपस्या करोगे। जल्दी उतर आओ।

"स्वामीजी के साथ मैं बहुत दिनों से नहीं मिला था। और कई बार उनका इसी प्रकार का पत्र पाकर मैं तुर्की जाने का संकल्प त्यागकर गाजीपुर की ओर रवाना हुआ। गाजीपुर पहुँचकर सुना कि वे ठाकुर के रसददार भक्त सुरेश बाबू के खूब बीमार हो जाने के कारण, उन्हें देखने कलकत्ता गये हैं। मैं भी गाजीपुर से कलकत्ते जाकर स्वामीजी से मिला।"[३]

गंगाधर का कलकत्ते लौटना और मठवास

९ जून (१८९०) को गंगाधर के बाली स्टेशन पहुँचने पर एक बड़ा संकट उपस्थित हो गया। एक पुलिस इंस्पेक्टर

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, प्र. सं. १९६३, पृ. ३७३

२. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, प्रथम सं., पृ. २३७

३. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), संकलक स्वामी चेतनानन्द, पृ. ८; प्रेमानन्द, ओंकारेश्वरानन्द, भाग २, पृ. ३५-३६

ने उन पर सन्देह किया और पकड़कर थाने ले गया। वहीं से उन्होंने प्रमदा बाबू को एक पत्र में लिखा, "कल के मेल ट्रेन से रवाना होकर आज सुबह हुगली स्टेशन पर उतरा था। इसके बाद फिर पैसेंजर में सवार होकर ज्योंही बाली स्टेशन पर उतरा, पुलिस इंस्पेक्टर हावड़ा ले गया। अभी भी जाने नहीं दे रहा है। मैं समझ नहीं पाता कि ऐसा वह किस उद्देश्य से कर रहा है। खैर, अभी छोड़ देगा। उसने मेरे भ्रमण की सारे बातें लिख ली हैं। आजकल पुलिस भ्रमण करनेवालों के विषय में बड़ी सावधान है, अन्यथा मैं अब तक वराहनगर पहुँच चुका होता।"[४]

बाद में वह उन्हें वराहनगर-मठ में ले जाकर स्वामीजी से बोला, "आप लिख दें कि ये आप लोगों के एक गुरुभाई हैं।" स्वामीजी के आदेश पर स्वामी शिवानन्द ने लिखने के लिए कलम उठाया, तभी स्वामीजी ने कागज को छीन लिया और तेजोद्दीप्त कण्ठ से कहा, "लिखने की ऐसी-तैसी!" उनकी कठोर भंगिमा देख इंस्पेक्टर उल्टे पाँव लौट गया।[५]

महेन्द्रनाथ दत्त ने बताया है कि गंगाधर अपने साथ बड़ा ही रंग-बिरंगा तिब्बती पोशाक, टोपी तथा जपयंत्र लाये थे। वे लिखते हैं कि उनके मुख से 'तिब्बत की बातें सुनने को बहुत-से लोग उनके पास आया करते थे। और उनमें वाक्य-रचना की विशेष क्षमता होने के कारण उनके द्वारा वर्णित स्थानों के विषय अत्यन्त सजीव प्रतीत होते थे।'[६] उन्हें केन्द्र बनाकर मठ में कुछ दिनों तक खूब आनन्द होता रहा। उनके द्वारा वर्णित तिब्बत तथा हिमालय की रोमांचकारी बातें सुनकर मानो तृप्ति ही नहीं हो रही थी। सब सुनकर स्वामीजी ने उत्साहपूर्ण हो कहा, "हाँ, मैं तेरे जैसा आदमी ही चाहता हूँ, जो मेरी हिमालय-यात्रा का संगी हो सके।"

गंगाधर का संन्यास

श्रीरामकृष्ण के अधिकांश शिष्यों को उन्हीं के हाथों से गैरिक वस्त्र प्राप्त हो चुका था और गंगाधर के तिब्बत-भ्रमण के दौरान ही स्वामीजी ने विरजा-होम का अनुष्ठान करके इन गुरुभाइयों को विधिवत् संन्यास और नये नाम प्रदान किये थे। हिमालय की ओर प्रस्थान के पूर्व ही जुलाई के प्रारम्भ में स्वामीजी ने आचार्य के रूप में गंगाधर के लिये संन्यास-अनुष्ठान का आयोजन किया। श्रीगुरु के चित्र तथा पादुका के सम्मुख होमानल प्रज्वलित करके गंगाधर ने उसमें अपनी सारी एषणाओं की आहुति दे दी। अन्य गुरुभ्राता उनके पास ही बैठे ध्यानमग्न थे। शान्त तथा गम्भीर परिवेश के बीच मंत्रों का उच्चारण होने लगा। नवीन संन्यासी नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मा की दिव्य ज्योति से उद्भासित हो उठे। गंगाधर के शरीर में अखण्ड ब्रह्मचर्य के लक्षणों का स्मरण करके स्वामीजी ने उन्हें 'अखण्डानन्द' नाम दिया।[७]

शरत् और सान्याल को पत्र

शरत् (स्वामी सारदानन्द) और सान्याल (स्वामी कृपानन्द) पहले से ही हिमालय-भ्रमण को गये हुए थे और उस समय अल्मोड़ा में रहकर तपस्या कर रहे थे। इस यात्रा के ही सन्दर्भ में स्वामीजी ने उन्हें ६ तथा १५ जुलाई को दो पत्र लिखे। ६ जुलाई के पत्र में उन्होंने लिखा है –

प्रिय शरत् और कृपानन्द,

तुम लोगों का पत्र यथासमय मिला। सुनने में आया है कि अल्मोड़ा की जलवायु इसी समय सर्वाधिक स्वास्थ्यप्रद रहती है, तो भी तुम्हें ज्वर हो गया! आशा करता हूँ कि यह 'मलेरिया' नहीं होगा।

गंगाधर के बारे में तुमने जो कुछ लिखा है – वह पूर्णत: मिथ्या है। उसने तिब्बत में सब कुछ खाया था – यह बात एकदम झूठ है... और अर्थसंग्रह के बारे में तुमने जो कुछ लिखा है – वह घटना इस प्रकार है कि उदासी बाबा नामक एक व्यक्ति के लिए उसे कभी-कभी भिक्षा माँगनी पड़ती थी और उसको प्रतिदिन बारह आने से एक रुपये तक की उसके फलाहार की व्यवस्था करनी पड़ती थी। गंगाधर अब जान गया है कि वह पक्का झूठा है, क्योंकि पहले जब वह उस व्यक्ति के साथ गया था, तभी उसने उससे कहा था कि हिमालय में कितनी ही आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखने को मिलती हैं। किन्तु उन आश्चर्यजनक वस्तुओं तथा स्थानों के दर्शन न मिलने के कारण गंगाधर को विश्वास हो चुका था कि वह व्यक्ति सफेद झूठ बोल रहा है, तो भी उसने उसकी बहुत सेवा की। ... इसका साक्षी है। बाबाजी के चरित्र के बारे में भी उसे सन्देहास्पद कारण मिले थे। इन सब घटनाओं के कारण तथा ... के साथ अन्तिम साक्षात्कार के फलस्वरूप ही वह उदासी के प्रति पूर्णतया श्रद्धाहीन हो चुका था और इसी कारण उस पर उदासी प्रभु का इतना क्रोध है। और पण्डे – जो एकदम पशुतुल्य हैं – उनकी बातों का तुम्हें कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। मैं देख रहा हूँ कि गंगाधर अब भी पहले की तरह कोमलमति शिशु जैसा ही है। वैसे इन भ्रमणों के फलस्वरूप उसकी चंचलता अवश्य कुछ घट गयी है और हमारे तथा हमारे प्रभु के प्रति उसका प्रेम बढ़ा ही है, घटा नहीं। वह निडर, साहसी, सरल तथा दृढ़निष्ठ है। उसे केवल एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जिसे वह स्वत: ही भक्तिभाव से अंगीकार कर सके; ऐसा होने पर वह एक बड़ा ही उत्तम व्यक्ति बन सकता है।

४. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ६२

५. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर पृ. ५६

६. विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, खण्ड १, पृ. १५०-१

७. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ५९

देश में लौटने का अथवा गाजीपुर छोड़ने का मेरा विचार भी नहीं था, किन्तु काली की बीमारी का समाचार पाकर मुझे वाराणसी जाना पड़ा और बलराम बाबू की आकस्मिक मृत्यु ने मुझे कलकत्ता आने को विवश किया। सुरेश बाबू तथा बलराम बाबू – दोनों ही इस लोक को त्यागकर चले गये। गिरीशचन्द्र घोष मठ के खर्चे का निर्वाह कर रहे हैं और दिन भी एक तरह से भलीभाँति बीत रहे हैं।

मेरा शीघ्र ही (अर्थात् मार्गव्यय की व्यवस्था होते ही) अल्मोड़ा जाने का विचार है। वहाँ से गढ़वाल के किसी स्थान में गंगातट पर कुछ दिन रहने की अभिलाषा है; गंगाधर मेरे साथ जा रहा है। कहना न होगा कि खासकर इसीलिए मैंने उसे काश्मीर से बुला लिया है।

मैं समझता हूँ कि कलकत्ते आने के लिए तुम लोगों को इतना व्यग्र नहीं होना चाहिए। भ्रमण भी काफी हो चुका है। यद्यपि भ्रमण करना उचित है, परन्तु मैं देख रहा हूँ कि तुम लोगों के लिए जो सबसे अधिक आवश्यक कार्य था, उसी को तुमने नहीं किया, अर्थात् कमर कस लो एवं चिमटा गाड़कर बैठ जाओ। मेरी धारणा है कि मानसिक विचारमात्र से ही ज्ञान का उदय नहीं होता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि किसी भी युग में दो-चार से अधिक व्यक्तियों को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है; इसलिए हम लोगों को अविच्छिन्न रूप से इस विषय में जुटे रहने तथा अग्रसर होने की आवश्यकता है; इसमें यदि मृत्यु का भी आलिंगन करना पड़े, तो वह भी स्वीकार है। तुम्हें तो मालूम ही है कि मैं इसी पुरानी रीति को मानता हूँ। आजकल के संन्यासियों में ज्ञान-विषयक जैसी धारणा है, वह तो एक तरह की ठगी है, मेरे पास इसके विपुल प्रमाण मौजूद हैं। अत: तुम निश्चिन्त रहो और शक्तिशाली बनो। राखाल ने लिखा है कि दक्ष (स्वामी ज्ञानानन्द) उसके साथ वृन्दावन में है; सोना आदि बनाना सीखकर वह पक्का ज्ञानी बन गया है। भगवान उसे आशीर्वाद प्रदान करें और तुम लोग भी कहो – ॐ शान्ति:।

मेरा स्वास्थ्य अब काफी अच्छा है; और मुझे आशा है कि गाजीपुर में रहने से जो लाभ हुआ है, वह कुछ काल अवश्य टिकेगा। जिन कार्यों को करने के विचार से मैं गाजीपुर से यहाँ आया हूँ, उनको पूरा करने में कुछ समय लगेगा। मैं यहाँ मानो बर्रों के एक छत्ते में रह रहा हूँ, ऐसा अनुभव मुझे पहले भी हुआ करता था। एक ही दौड़ में मैं हिमालय जाने के लिए व्यग्र हो उठा हूँ। अबकी बार मुझे पवहारी बाबा या अन्य किसी साधु के पास नहीं जाना है। ये लोग व्यक्ति को सर्वोच्च उद्देश्य से विचलित कर देते हैं। इसलिए एकदम ऊपर की ओर जा रहा हूँ।

अल्मोड़ा की जलवायु कैसी लग रही है? शीघ्र लिखना। सारदानन्द, खासकर तुम्हारे लौटने की कोई जरूरत नहीं। एक जगह सब मिलकर गुल-गपाड़ा मचाना तथा आत्मोन्नति की इतिश्री करने से क्या लाभ? यह ठीक है कि अज्ञानी घुमक्कड़ नहीं बनना चाहिये, किन्तु वीर की तरह आगे बढ़ते रहो। 'निर्मानमोहा जितसंगदोषा:'* आदि सब ठीक है। तुम्हें अग्नि में कूदने के लिए कौन कहता है? यदि यह अनुभव होता हो कि हिमालय में साधना नहीं हो रही है, तो अन्यत्र क्यों नहीं चले जाते?

तुमने जो प्रश्न-पर-प्रश्न किये हैं, ये केवल तुम्हारे मन की कमजोरी ही दर्शाते हैं कि तुम वहाँ से उतर आने के लिए उतावले हो उठे हो। शक्तिमान्, उठो और वीरता दिखाओ। निरन्तर कर्म करते रहो, विघ्न-बाधाओं का सामना करने के लिए आगे बढ़ो। यहाँ पर सब कुशल है, केवल बाबूराम को थोड़ा ज्वर हो गया है।

तुम्हारा ही, नरेन्द्र[८]

बागबाजार (कलकत्ता) से १५ जुलाई (१८९०) को सारदानन्दजी को बँगला में लिखा हुआ स्वामीजी का दूसरे पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

प्रिय शरत्,

यह जानकर मुझे खेद हुआ कि सान्याल (वैकुण्ठनाथ) की आदतें अभी तक पक्की नहीं हुई हैं; ब्रह्मचर्य के विषय में उसका क्या विचार हैं? मुझे तुम्हारी बात समझ में नहीं आती। यदि ऐसी बात है, तो तुम दोनों के लिये अच्छा यही होगा कि दोनों नीचे (कलकत्ता) आकर निवास करो। महेन्द्र मुखर्जी की विधवा पूरे जी-जान से तुम लोगों के लिये मठ बनाने के प्रयास में लगी हुई है और सुरेन्द्रनाथ मित्र भी (इस कार्य हेतु) हजार रुपये रख गये हैं। अत: शीघ्र ही तुम लोगों के लिये गंगाजी के किनारे एक सुन्दर जगह मिल जाने की सम्भावना है। जहाँ तक वहाँ की कठोर तपस्या की बात है, इस विषय में अभी मेरी कुछ कहने की इच्छा नहीं है।

मेरा इधर (कलकत्ते) आने का कोई विचार नहीं था, केवल बलराम बोस की मृत्यु के कारण ही मुझे यहाँ आना पड़ा, पर थोड़ा-सा देखकर ही मैं लौट जाऊँगा। यदि पहाड़ों में इतने दोष हैं, तो मेरे लिये बहुत सारे स्थान हैं; बस, मैं बंगाल से प्रस्थान कर रहा हूँ। यदि एक स्थान अनुकूल नहीं हुआ, तो दूसरा अनुकूल हो जायेगा। अत: मेरा यही संकल्प

* निर्मानमोहा जितसंगदोषा: अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदु:खसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत् ॥ गीता १५/५
भावार्थ – जिनका अभिमान तथा मोह दूर हो गया है, जिन्होंने आसक्ति-रूप दोष को जीत लिया है, जो आत्मनिष्ठ हैं, जिनकी कामनाएँ नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख-दु:ख-रूप द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं, ऐसे विगतमोह व्यक्ति ही उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।

८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, प्र. सं. १९६३, पृ. ३७८-७९

है। तुम्हारे लौटने पर यहाँ के सभी लोग बड़े आनन्दित होंगे। और तुम्हारे पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि तुम तत्काल न लौटो, तो यह तुम्हारे लिये बड़ा हानिकर होगा। अत: यथासम्भव जल्दी-से-जल्दी लौट आओ। यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचने के पहले मैं यहाँ से चल पड़ूँगा; परन्तु मैं अल्मोड़ा नहीं जाऊँगा। भविष्य के विषय में मेरी अपनी योजनाएँ हैं और वे गोपनीय रहेंगी।

जहाँ तक सान्याल का प्रश्न है, मेरी समझ में नहीं आता कि मैं किस प्रकार उसके काम आ सकूँगा। नि:सन्देह संग के विषय में तुम अपने स्वयं के मत का पोषण करने के लिये स्वाधीन हो। मेरे लिये कोई सुदृश्य (सुन्दर) तथा सुभिक्ष्य (जहाँ सहजता से भिक्षा मिले) स्थान ही यथेष्ट होगा। मुझे लगता है कि संग की मुझे कुछ खास, या फिर बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं।

तुम्हारा – नरेन्द्र[९]

घुसुड़ी : श्रीमाँ से विदा

नरेन्द्रनाथ हिमालय में तपस्या करने जा रहे थे। प्रस्थान के पूर्व गुरुमाता श्री सारदा देवी का आशीर्वाद लेना आवश्यक था। उन दिनों वे कलकत्ते से कुछ दूर उस पार के गंगातट पर घुसुड़ी ग्राम में एक किराये के मकान में निवास कर रही थीं। उस दिन की घटना गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ से सुन कर स्वामी भूमानन्दजी ने लिपिबद्ध किया है। उन्होंने लिखा है, "माँ, श्रीरामकृष्ण की केवल सहधर्मिणी ही नहीं थीं – दो शरीरों में एक – अभेद थीं। ... एक दिन सुबह नरेन्द्रनाथ ने घुसुड़ी आकर माँ को प्रणाम किया, बोले – "माँ, थोड़ा देश को घूमकर देखने की इच्छा हुई है।"

सुनकर माँ स्थिर हो गयीं। बाद में आत्म-संवरित अवस्था में बोलीं, "तुम ऐसे किस स्थान में जाओगे, जहाँ वे (ठाकुर) न हों? वे तुम्हारे साथ-साथ ही रहेंगे। रण में, वन में या दुर्गम स्थानों में माँ-दुर्गा ही तुम्हारी रक्षा करेंगी।"

ठाकुर के कुछ शिष्यों के साथ माँ जो बातें कहती थीं, वह सामान्तयत: अत्यन्त मृदु स्वर में ही कहती थीं, उसे फुसफुसाकर बोलना कहा जा सकता है। पर जब वे भावावेश में बोलतीं, तो वह मृदु होने के बावजूद अत्यन्त स्पष्ट होता।

कमरा निस्तब्ध था। थोड़ी देर बाद गोलाप-माँ ने कहा, "नरेन, माँ को भजन नहीं सुनाओगे?" नरेन्द्रनाथ बोले, "माँ कहें, तो सुनाऊँगा।" माँ ने मृदु स्वर में कहा, "पहले प्रसाद खा लो। तुम्हारे भजन अवश्य सुनूँगी।" गोलाप-माँ प्रसाद ले आयीं। नरेन्द्र ने प्रसाद ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने बाहर के कमरे में बैठकर गाना शुरू किया –

तोमारेइ करियाछि जीवनेर ध्रुवतारा।
ए समुद्रे आर कभु हबो नाको पथहारा।।

(भावार्थ – तुम्हें ही मैंने अपने जीवन का ध्रुवतारा बना लिया है। इस भवसमुद्र में अब मैं कभी दिशा नहीं भूलूँगा।) पूरा भजन दो बार गाने के बाद नरेन्द्रनाथ ठहरे, परन्तु गाने की सुरधारा गंगा के ऊपर मुक्त वायु में प्रतिध्वनित हो उठी। थोड़ी देर ठहर कर नरेन्द्रनाथ ने पुन: गाया –

आमाय निये बेड़ाय हाथ धरे।
जेखाने जाइ से जाय साथे,
आमार बलते हय ना जोर करे।

(भावार्थ – वह मेरा हाथ पकड़े हुए घुमाती रहती है। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, मेरे साथ जाती है, मुझे हठपूर्वक कहना नहीं पड़ता।) उस दिन दोपहर में नरेन्द्रनाथ ने माँ के यहाँ ही भोजन किया। शाम के समय वे माँ को साष्टांग प्रणाम करके वराहनगर मठ लौट आये और गुरुभाइयों को बताया – "जब महिला-भक्तों ने मिलकर माँ की सेवा का भार स्वीकार कर लिया है, तो मुझे नहीं लगता कि भविष्य में माँ को कोई असुविधा होगी।" इसके बावजूद जब किसी-किसी ने नरेन्द्रनाथ के पश्चिमी भारत की यात्रा करने पर आपत्ति जतायी, तो वे सबको सम्बोधित करते हुए बोले, 'जानते हो, मेरे पश्चिम की ओर जाने की बात सुनकर माँ ने क्या कहा! बोलीं, "तुम ऐसे किस स्थान में जाओगे, जहाँ वे (ठाकुर) न हों? वे तुम्हारे साथ-साथ ही रहेंगे। रण में, वन में या दुर्गम स्थानों में माँ दुर्गा ही तुम्हारी रक्षा करेंगी।" ' इसके कुछ दिनों बाद ही नरेन्द्रनाथ ने पश्चिमी भारत की यात्रा शुरू की।"[१०]

अन्य विवरणों के अनुसार स्वामीजी ने माँ को भजन सुनाने के बाद कहा, "माँ, यदि मनुष्य बनकर लौट सकूँगा तभी लौटूँगा; नहीं तो नहीं!" माँ चकित होकर बोलीं, "यह क्या?" स्वामीजी ने तुरन्त संशोधन किया, "नहीं नहीं, आपके आशीर्वाद से शीघ्र लौटूँगा।" माँ ने पूछा, "बेटा, अपनी माँ से मिलकर नहीं जाओगे?" स्वामीजी बोले, "माँ, आप ही मेरी एकमात्र माँ हैं।" तब श्रीमाँ ने उनका अदम्य आग्रह देखकर मुक्त हृदय से आशीर्वाद दिया और शीघ्र लौट आने को कहा। अखण्डानन्दजी को भी आशीर्वाद देती हुई वे बोलीं, "बेटा, तुम्हारे हाथों में मैंने अपना सर्वस्व सौंप दिया है। तुम पहाड़ की सारी स्थितियों को जानते हो। देखो, नरेन को खाने-पीने का कोई कष्ट न हो।"[११]

अखण्डानन्दजी ने माँ का आदेश शिरोधार्य किया और दोनों बराहनगर मठ की ओर लौट पड़े।

❖ (क्रमश:) ❖

९. Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ६

१०. श्रीश्री मायेर जीवन-कथा, स्वामी भूमानन्द, १९८६, प्रकाशक – पी. के. दास कोलकाता, पृ. १२२-२३

११. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, प्रथम सं., पृ. २३८; स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, सं. १९९४, पृ. ५५

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी सिद्धेश्वरानन्द

(स्वामी सिद्धेश्वरानन्दजी रामकृष्ण संघ में गोपाल महाराज के नाम से भी परिचित थे। वे सन् १९२० ई. में संघ के मद्रास केन्द्र में सम्मिलित हुए और १९२३ ई. में उन्हें स्वामी शिवानन्दजी महाराज से संन्यास-दीक्षा प्राप्त हुई। वे १९२५ से १९३७ तक संघ के मैसूर केन्द्र में कार्यरत रहे। तदुपरान्त उन्हें फ्रांस भेजा गया, जहाँ उन्होंने पेरिस का वेदान्त-केन्द्र प्रारम्भ किया और १९५७ ई. में अपने देहावसान तक वहीं रहे। उनका प्रस्तुत लेख 'वेदान्त एण्ड द वेस्ट' नामक द्वैमासिक अँगरेजी पत्रिका के सितम्बर-अक्तूबर, १९५४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से यह साभार गृहीत और स्वामी विदेहात्मानन्दजी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१९१६ ई. में अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मुझे महाराज से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दिन (समाचार-पत्र में) पढ़ने में आया कि वे मद्रास आये हुए हैं। यह जानकर कि वे श्रीरामकृष्ण के दुलारे शिष्य तथा रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं, मैंने तथा कृष्ण मेनन (बाद में स्वामी त्यागीशानन्द) ने जाकर उन्हें प्रणाम करने का संकल्प किया। मयलापुर मद्रास का एक उपनगरीय क्षेत्र था, जो हमारे निवासस्थान से काफी दूर पड़ता था, अत: वहाँ जाने के लिए हमें शनिवार तक का इन्तजार करना पड़ा।

उनके साथ वास्तविक भेंट होने से एक दिन पूर्व ही मुझे उनकी हल्की-सी झलक मिल गयी थी। उस दिन समुद्र-तट से मैंने देखा कि एक बग्घी दक्षिण की ओर चली जा रही है और उसमें बैठे हुए लोग गेरुआ कपड़े पहने हुए हैं। सम्भव है कि उनमें महाराज भी हों, ऐसा सोचकर मैं यथासम्भव गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ता रहा। अगले दिन मैंने गाड़ी में बैठे हुए लोगों में से एक को महाराज के रूप में पहचाना।

उस दिन मैं कृष्ण मेनन के साथ महाराज का दर्शन करने मयलापुर गया हुआ था। वहाँ हमें बताया गया कि वे शीघ्र ही उस बरामदे में आनेवाले हैं। हम एक घण्टे तक प्रतीक्षा करते रहे। इसी बीच एक कार आकर सामने रुकी और एक परम तेजस्वी संन्यासी अपने सहयोगियों के साथ भवन से बाहर आये। वे लोग जाकर कार में बैठ गये। वयस्क से दिखनेवाले संन्यासी ही महाराज होंगे, ऐसा अनुमान करके मैं उनके निकट जाकर बोला, "महाराज, हम विद्यार्थी हैं और विशेष रूप से आप ही का दर्शन करने आये हुए हैं।"

उन्होने अति मधुर स्वर में कहा, "तुम मुझसे मिलने आये हो? तो एक बार फिर आना।"

हमने पूछा, "क्या हम अगले शनिवार को आएँ?" उन्होंने सम्मति दी।

अगले शनिवार को कृष्ण मेनन तथा मैं पुन: मयलापुर गये। उस दिन और भी अनेक लोग महाराज से मिलने आये हुए थे, अत: हमें काफी देर तक इन्तजार करना पड़ा। आखिरकार हमें भी अन्दर बुलाया गया। हमारे बैठने के लिए फर्श पर चटाई बिछी हुई थी।

हम लोग महाराज के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कुछ देर तक मौन बैठे रहे। महाराज हुक्का पी रहे थे। उन्होंने हमसे पूछा, "तुम लोग क्या चाहते हो?" हमने कहा, "हम आपसे कुछ आध्यात्मिक उपदेश सुनने आये हैं।" महाराज बड़े गम्भीर तथा अन्तर्मुख थे और हमें भय हो रहा था कि कहीं हम उनकी शान्ति तो नहीं भंग कर रहे हैं। वे बोले "सदा सत्य बोलना और ब्रह्मचर्य का पालन करना।" उन दिनों हम सुविख्यात पहलवान राममूर्ति के व्याख्यानों में रुचि ले रहे थे और उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ प्राणायाम आदि क्रियाओं का भी अभ्यास कर रहे थे। अत: मैंने कहा, "महाराज, हम लोग थोड़ा-थोड़ा प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। क्या उसे जारी रखें?" उत्तर में महाराज बोले, "नहीं, वह खतरनाक है, तुम उसे तत्काल बन्द कर दो। जब मैं मुलतान[१] में था, वहाँ मेरी मुलाकात एक ऐसे व्यक्ति से हुई, जिसने इनका अभ्यास किया था और फलस्वरूप बुरी तरह बीमार पड़ गया था। तुम्हें प्राणायाम करने की आवश्यकता नहीं, प्रभु के नाम का जप करते रहो, वही यथेष्ट है। श्वास-निरोध ही प्राणायाम का उद्देश्य है और जप-ध्यान के द्वारा तुम्हें स्वत: ही उसकी उपलब्धि हो जायेगी। मन की एकाग्रता के फलस्वरूप तुम्हारा श्वास सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होता चला जायगा और बाद में स्वाभाविक रूप से अवरुद्ध हो जायगा।"

मैंने पूछा, "हम भगवान के किस नाम का जप करें?"

महाराज बोले, "एक दिन सूर्योदय के पूर्व आना, मैं तुम्हें एक मंत्र दे दूँगा।"

मैंने फिर पूछा, "किस दिन आऊँ?" महाराज ने क्षण भर विचार किया, फिर 'ईश्वर' नाम लेकर किसी को पुकारा। एक युवा ब्रह्मचारी भीतर आये। महाराज ने बँगला में उनसे कुछ कहा। ब्रह्मचारी पंचाग-जैसी कोई पुस्तक ले आये। उसे देखकर महाराज ने हमें अगली बार आने का दिन बता दिया। हम लोग विस्मित रह गये, क्योंकि मंत्र लेने के विषय में हमने इतनी औपचारिकता की अपेक्षा न की थी।

तदुपरान्त एक स्वामीजी ने बड़ी मधुर वाणी में हमारे साथ वार्तालाप किया। मुझे बाद में मालूम हुआ था कि वे स्वामी शंकरानन्द[२] थे। वहाँ हम एक अन्य ब्रह्मचारी (बाद में

१. पंजाब का एक नगर, जो अब पाकिस्तान में है।

२. ये बाद में रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हुए थे।

स्वामी अमृतेश्वरानन्द) से भी मिले, जिनके मुख से हमने अपने जीवन में पहली बार 'दीक्षा' शब्द सुना। उन्होंने बताया कि महाराज हमें दीक्षा देंगे। मलाबार (केरल) में हमने दीक्षा के बारे में अब तक कुछ भी नहीं सुना था, क्योंकि न तो हम ब्राह्मण थे, न अब तक रामकृष्ण संघ के किसी संन्यासी के साथ हमारा परिचय ही हुआ था। हमें यह भी बताया गया कि भगवान श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में महाराज का स्थान कितना ऊँचा है। उन ब्रह्मचारी से हमें यह भी मालूम हुआ कि महाराज के दक्षिणेश्वर आने से पूर्व ही जगदम्बा ने श्रीरामकृष्ण को दर्शन देकर महाराज को उनका मानस-पुत्र बताया था। यह सब सुनकर हम लोग महाराज की कृपा पाने को और भी व्यग्र हो उठे। परन्तु नियत दिन पर वह अनुष्ठान सम्भव न हो सका था। इस विलम्ब के कारण हमें काफी मनोव्यथा हुई। हमारी परीक्षा समीप आती जा रही थी और महाराज भी मद्रास से शीघ्र ही विदा लेने वाले थे।

अन्ततः १९१७ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि पर मैं मंत्रदीक्षा पाकर धन्य हुआ। तब से मैं नियमित रूप से मठ में आवागमन करने लगा। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय की आखिरी परीक्षाएँ दे रहा था। इधर (मठ में) मेरी अवनी महाराज (स्वामी प्रभवानन्द) के साथ काफी घनिष्ठता हो गयी थी। वे कभी-कभी मुझसे पूछा करते कि मैं भावी जीवन में क्या करने का सोच रहा हूँ! अन्त में मैंने मठ में ही प्रवेश लेने का संकल्प किया।

१९२० ई. के प्रारम्भ में मुझे एक पत्र मिला कि महाराज शीघ्र ही पुनः दक्षिण भारत की यात्रा पर आनेवाले हैं। इसके थोड़े दिनों बाद ही प्रभवानन्दजी ने लिखा "तुम्हारी ही उम्र के कलकत्ते के दो नवयुवकों ने संसार-त्याग किया है और अब हमारे साथ हैं। तुम्हारा क्या हाल है?" इसका मुझ पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और मैंने निर्णय कर लिया। घर-बार त्यागकर २० अप्रैल १९२० ई. को मैं मद्रास मठ में सम्मिलित हो गया। मद्रास जाकर महाराज से मिलना ही मेरे गृहत्याग का मुख्य कारण था, पर वर्ष भर से अधिक प्रतीक्षा करने के बाद ही मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य मिल सका था। जहाँ तक याद आता है, वे मई में मद्रास आये थे। तब तक मैं बँगला भाषा सीख चुका था और अब मैं उनके वार्तालाप का अर्थ समझकर लाभान्वित हो सकता था।

महाराज की उपस्थिति के फलस्वरूप मठ का वातावरण आध्यात्मिक भावों से इतना आप्लावित हो उठता कि उसका वर्णन करना असम्भव है। वे मौन रहकर भी अपनी उपस्थिति मात्र से परिवेश को बदल देते थे।

वे मानो आध्यात्मिकता के डायनेमो थे। आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करने के लिए भी उन्हें मानो बहिर्मुखी होना पड़ता था। परन्तु वे जब भी बोलते, तो पूरी प्रामाणिकता के साथ बोलते। सौभाग्यवश एक ऐसे अवसर पर मैं भी उपस्थित था। उस दिन महाराज ने दो घण्टे से भी अधिक समय तक वार्तालाप किया था और एक शिष्य को कर्म और उपासना का विषय समझाते हुए उसे जीवन के प्रति एक बिल्कुल नयी दृष्टि प्रदान की थी। महाराज की प्रशिक्षण की पद्धति भी अपूर्व थी। कभी-कभी वे किसी शिष्य को छोटी-सी भूल के लिए भी कठोर शब्दों में डाँट देते थे, जो उसे अनुचित लग सकता था। महाराज कई महीने से इसी पद्धति का अवलम्बन करते हुए एक युवा संन्यासी का नियमन कर रहे थे। उस शिष्य का भाव यह था कि महाराज उसके मन को देख रहे हैं और उसी की भलाई के लिए ऐसा कर रहे हैं। फिर भी कभी-कभी वह निराश हो उठता था। आखिकार इस डाँट-फटकार से तंग आकर वह दक्षिण भारत के किसी तीर्थस्थान में तपस्या करने का प्रस्ताव लेकर महाराज के पास गया। ऐसा लगा कि मानो महाराज भी इस योजना में रुचि ले रहे हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं शिष्य को कई उपयुक्त स्थानों का सुझाव दिया। दो-तीन सप्ताह के भीतर एक स्थान का चुनाव भी हो गया और प्रस्थान के लिए महाराज ने स्वयं ही एक अच्छा दिन भी निर्धारित कर दिया।

उस दिन अपराह्न में तीन बजे महाराज एक आरामकुर्सी पर बैठे थे। शिष्य यात्रा के लिए अपना सामान बाँधकर और आवश्यक तैयारी करने के बाद महाराज से मिलने आया। मैं उसे छोड़ने स्टेशन जानेवाला था। शिष्य ने जब महाराज के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया, तो उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक पूछा, "तुम कहाँ जा रहे हो? ... स्वामी शिवानन्दजी को बुलाओ।" शिवानन्दजी आकर महाराज के पास एक कुर्सी पर बैठ गये। सारी घटना मेरे मानसपटल पर अब भी इतनी स्पष्ट है, मानो कल ही घटी हो।

शिवानन्दजी को सम्बोधित करके महाराज कहने लगे, "देखो दादा, यह लड़का तपस्या करने जाना चाहता है। मेरी तो समझ में नहीं आता कि हमारे बच्चों के मन में ऐसे विचार भला क्योंकर उठते हैं! यह आश्रम स्वामी रामकृष्णानन्द के आदर्श जीवन से पुण्यक्षेत्र हो गया है और ये लड़के इस सुयोग का लाभ उठाना नहीं जानते। इस मठ के समान आध्यात्मिक परिवेश उन्हें बाहर भला कहाँ मिलेगा? वस्तुतः ये लोग स्वयं ही अपने मन को नहीं समझ पा रहे हैं।"

तदुपरान्त वे शिष्य की ओर उन्मुख होकर बोले, "जब तक तुम सोचते हो कि ईश्वर वहाँ है, तुम्हारा मन चंचल रहेगा; और जब तुम्हें लगेगा कि ईश्वर (अपने हृदय पर हाथ रखकर) यहाँ है, तभी शान्ति मिलेगी। इधर-उधर भटकने से क्या लाभ? क्या तुमने सैकड़ो घुमक्कड़ साधुओं को देखा

नहीं? क्या तुम भी वैसा ही बनना चाहते हो? स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने एक महान उद्देश्य के साथ इस मठ की स्थापना की है। इस बात पर गम्भीरता के साथ सोचो और तदनुसार अपना चरित्र गढ़ने का प्रयास करो। इससे अच्छा स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा? यहाँ एक व्यक्ति की साधना भी सम्पूर्ण मठ को पवित्रता की तरंगों से परिपूर्ण रखती है।

''अहा ! ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में निवास करते थे, तब वहाँ का आध्यात्मिक वातावरण कैसा अद्भुत था ! जैसे ही हमारी नाव वहाँ के घाट से लगती, हमें प्रतीत होता मानो हम स्वर्ग में पहुँच गये हों। हम गुरुभाइयों के बीच परस्पर कितना स्नेह था ! यहाँ तुम लोगों में वैसा स्नेह नहीं दिखाई देता। साधु का स्वभाव मधुर होना चाहिए, उसे किसी के भी प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अहा ! मुझे एक महात्मा की याद आती है, जिनसे मैं वृन्दावन में मिला था। वे नियमित रूप से मन्दिर में आया करते थे। एक बार कई दिनों तक उनके न आने पर मुझे उनकी बड़ी याद आयी। उनके पुन: आने पर मैंने उनसे कई दिनों से न आने का कारण पूछा। उन्होंने बताया, 'मेरे पाँव में फोड़ा हुआ था। एक दिन भीड़ में एक भक्त का पैर उस फोड़े से छू गया, अत: कुछ काल के लिए मैं अपंग-सा हो गया था।' उन महात्मा के वर्णन के ढंग ने मेरा हृदय छू लिया। उन्हें शिकायत न थी कि किसी ने उनके पाँव कुचल दिये थे। उनके लिए सभी पाँव प्रभु के ही पाँव थे और प्रभु ने ही मानो अपना चरण उन पर रख दिया था।

''यदि तुम सबका स्वभाव मधुर होता और तुम्हारे हृदय में स्नेह रहता, तो तुममें आपसी मेल रहता। तुम प्रभु को अपने प्रेम का केन्द्र बना लो। तुम सर्वदा ध्यान में डूबे नहीं रह सकते। इस मठ में तुम्हें स्वामीजी का कार्य करने के इतने अवसर हैं। तुम्हें ये कार्य अति आनन्दपूर्वक करने चाहिए। पर ऐसा न करके तुम लोग आपस में झगड़ते हो। कलकत्ते में सत्येन (स्वामी आत्मबोधानन्द) भी तुम्हारी ही तरह का कार्य कर रहा है, परन्तु उसका दृष्टिकोण सही है। तुम लोग उसके समान बनने का प्रयास क्यों नहीं करते? यही तुम्हारे लिए साधना का सर्वोत्तम समय है। बुढ़ापे में भला क्या कर सकोगे? अपने हृदय में प्रेम का विकास करो, बाकी सब कुछ अपने आप ही प्राप्त हो जायगा। तुम लोग इतने शुष्क क्यों हो गये हो? मठ में प्रवेश लेते समय तुममें जो उत्साह था, अब वह कहाँ चला गया? तुम लोग अपनी वर्तमान उपलब्धि से ही सन्तुष्ट हो, परन्तु मैं तुमसे कहे देता हूँ कि कभी भी अपने आप से सन्तुष्ट न होना। अपनी खोज में आगे बढ़ते रहने का प्रयास करो। तुम्हें उस आदमी की कहानी याद है न, जो चन्दन के वन की तलाश में निकला था? यहीं पर रुक न जाना। हीरे की खान मिलने तक आगे बढ़ते जाओ। तुमने प्रभु की शरण ली है, युवक हो, शुद्ध हो; तुम्हारे समक्ष असंख्य सम्भावनाओं के द्वार खुले पड़े हैं। हमारी सलाह मानकर प्रेम करना सीखो, हमारे निर्देशों का पालन करना सीखो। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने एक निश्चित उद्देश्य लेकर इस संघ की स्थापना की है। उनका आदर्श था – 'अपनी मुक्ति और मानवरूपी ईश्वर की सेवा'। क्या तुम देखते नहीं कि हम बाहर घूमनेवाले संन्यासियों से कितने भिन्न प्रकृति के हैं? जरा सोचो तो कि यह मठ छोड़कर चले जाने पर तुम्हें अपना कितना समय भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ जुटाने के लिए खर्च करना पड़ेगा?''

वार्तालाप के दौरान महाराज ने श्रीरामकृष्ण की यह उक्ति उद्धृत की – ''मन और मुख एक करो।'' शिष्य ने कहा, ''महाराज, आप हमसे यह सब करने को कह तो रहे हैं, परन्तु आप इसमें हमारी सहायता क्यों नहीं करते? ठाकुर ने तो आपके लिए सब कुछ किया था।... हम निर्बल जो हैं !'' महाराज ने भावावेश में उत्तर दिया, ''तुम समझते हो कि हम तुम्हारी सहायता नहीं कर रहे हैं। तुम्हें जो सहायता दी गयी है, क्या तुम उसका उपयोग कर रहे हो? दिन भर में तुम कितनी बार जप-ध्यान करते हो? क्या तुम अपना मन प्रभु के स्मरण-मनन में लगाये रखते हो? श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति को सदा याद रखना – 'एक हाथ से प्रभु के चरण पकड़कर दूसरे हाथ से उनके कार्य करो।' पूजा के भाव से किया हुआ कर्म तुम्हें पवित्र कर देगा।''

महाराज जिस समय ये बाते कह रहे थे, उस समय एक ऐसा आध्यात्मिक परिवेश बन रहा था कि उसका कण मात्र भी शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता। उस आध्यात्मिक परिवेश ने, न केवल उस शिष्य पर, जिसे सम्बोधित कर ये वचन कहे गये थे, वरन् वहाँ उपस्थित सभी लोगों पर सदा के लिए एक अमिट प्रभाव अंकित कर दिया था। ❑❑❑

पृष्ठ १६ का शेषांश

सेवक – महाराज जी, तिथि पूजा के दिन मठ में न जाकर घर में जप-ध्यान करने से तो होता।

महाराज – नहीं, उत्सव में जाने की आवश्यकता है। बीच-बीच में जाना चाहिये।

सेवक – कहाँ, इच्छा तो नहीं होती है ! इष्ट के प्रति आकर्षण और आत्मीयता का बोध तो नहीं करता हूँ।

महाराज – आत्मीयता का बोध करने से तो हो ही गया।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी शुद्धानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

"तुममें से कोई एक लिखता रहे, मैं बोलता जाता हूँ।"

स्वामी विवेकानन्द आलमबाजार मठ के बड़े कमरे में बैठकर समवेत साधु-ब्रह्मचारियों में से किसी एक को आदेश दे रहे थे कि रामकृष्ण मठ के आदर्श, कर्मनीति तथा संन्यासी-ब्रह्मचारियों की जीवन-धारा से सम्बन्धित कुछ नियमों को संक्षेप में लिपिबद्ध कर लिया जाय। वह १८९७ ई. के अप्रैल माह का अन्तिम भाग था।

परन्तु उस दिन उस मूर्तिमान व्यक्तित्व के सामने बैठकर उनकी अग्निमयी वाणी को धारण करने के लिये कोई भी साहस नहीं जुटा पा रहा था। सभी एक दूसरे को ठेलकर आगे करने लगे, पर कोई भी स्वयं आगे नहीं बढ़ना चाहता था। अन्त में 'कोई एक व्यक्ति' हाथ में कागज-कलम लिये स्वामीजी के समक्ष आगे बढ़ा और गणेश के आसन पर बैठ गया। यद्यपि वह आयु में कनिष्ठ था और ४-५ दिनों पूर्व ही मठ में सम्मिलित हुआ था, परन्तु उसका स्वभाव वस्तुत: विवेकानन्द की तड़ित्-शक्ति को वहन करने में समर्थ था।

स्वामीजी के चरणों में आसीन उस दिन का वह 'कोई एक व्यक्ति' परवर्ती काल में स्वामी शुद्धानन्द के नाम से युगाचार्य विवेकानन्द के भाव तथा सन्देश के सजीव भाष्य के रूप में सबका श्रद्धाभाजन हुआ था। उनका समग्र जीवन 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' का एक वास्तविक रूपायन था। अनेक शास्त्रों के ज्ञाता शुद्धानन्द के जीवन में जो अति अद्भुत समन्वय का आदर्श प्रस्फुटित हो उठा था, वह उनकी असाधारण गुरुभक्ति तथा अनलस संघ-सेवा का ही फल था। श्रीरामकृष्ण-संघ के विस्तार के इतिहास में स्वामीजी के प्रिय इन निष्ठावान शिष्य के अवदान ने एक अविस्मरणीय उज्ज्वल अध्याय की सृष्टि की है। स्वामीजी के अधिकांश ग्रन्थों के बँगला भाषा में अनुवादक के रूप में और उनके आदर्शों के श्रेष्ठ प्रवक्ता के रूप में शुद्धानन्द जी बंगाल के साहित्य-संस्कृति तथा धर्मेतिहास के क्षेत्र में अमर हो गये हैं। बंगाल में स्वामीजी के भाव का प्रचार मुख्यत: उन्हीं के द्वारा अनुवादित पुस्तकों आदि के माध्यम से हुआ था।

स्वामी शुद्धानन्द का पूर्व नाम सुधीरचन्द्र चक्रवर्ती था। सुधीर का पैतृक निवास कलकत्ते के सर्पेंटाइन लेन में था। उनके पिता आशुतोष चक्रवर्ती एक अतीव धर्मनिष्ठ उदारचेता ब्राह्मण थे। १८७२ ई. की आश्विन शुक्ला महाष्टमी तिथि को सुधीर का जन्म हुआ था। उनके छोटे भाई सुशीलचन्द्र भी परवर्ती काल में स्वामी प्रकाशानन्द के नाम से स्वामीजी के एक संन्यासी शिष्य के रूप में विख्यात हुए थे।

बचपन से ही सुधीर के जीवन में धर्म के प्रति प्रबल आकर्षण दीख पड़ता था। साधु-संन्यासियों का नाम सुनते ही उन्हें देखने जाना और समवयस्क मित्रों को साथ लेकर धर्मग्रन्थों का पाठ तथा उन पर चर्चा करना उनका बचपन से ही स्वभावगत अभ्यास था। पढ़ाई-लिखाई में वे एक मेधावी छात्र के रूप में प्रशंसित हुए थे। प्रवेशिका परीक्षा में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने कलकत्ते के सिटी कॉलेज में एफ. ए. की पढ़ाई आरम्भ की। इन्हीं दिनों से उनके धर्मजीवन की धारा ने नवीन वेग धारण किया और वह व्याकुल होकर किसी सुनिर्दिष्ट पथ की खोज में दौड़ पड़ी। उन दिनों उनके कुछ ऐसे संगी भी जुट गये थे, जिनके साहचर्य से सुधीर की इस व्याकुलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। इस प्रसंग में उनके खगेन, कालीकृष्ण, हरिपद, गोविन्द शुक्ल आदि संगियों के नाम स्मरणीय हैं, जो परवर्ती काल में क्रमश: विमलानन्द, विरजानन्द, बोधानन्द तथा आत्मानन्द के नाम से श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के विशिष्ट सन्देशवाहक हुए थे।[१]

सुधीर अपने मित्रों को साथ लेकर पाठ, चर्चा, भजन, कीर्तन आदि में खूब तन्मय हो उठे। मित्र खगेन के मकान में ही इन लोगों का प्रधान अड्डा था। सुधीर का एक Debating Club (वाद-विवाद-चक्र) भी था। उसमें नियमित रूप से अंग्रेजी तथा बँगला भाषा में धर्म-विषयक व्याख्यान आदि का अभ्यास भी चलता रहता था।

---

१. It was in 1891-92 that a group of educated young men began to frequent the Baranagore Math. ... In a way, this group succeeded the direct disciples of the Master as leaders of the Ramakrishna Order. They were : Sudhir Chandra Chakravarty, Kalikrishna Bose, Khagendra Nath Chatterjee, Govinda Chandra Shukul, Haripada Chatterjee, and Sushil Chandra Chakravarty – who took monastic vows and became Swamis Shuddhananda, Virajananda, Vimalananda, Atmananda, Bodhananda and Prakashananda respectively. – *History of Ramakrishna Math and Mission* (By Swami Gambhirananda)

इन दिनों श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के शिष्य, आर्य मिशन इंस्टीट्यूशन के पंचानन भट्टाचार्य अनेक युवकों को योगशिक्षा दिया करते थे। सुधीर भी उनके पास आना-जाना करते। वे जब जो भी पकड़ते, उसे अत्यन्त निष्ठा के साथ करते। इसी कारण योगाभ्यास के दिनों में वे अपनी वेशभूषा तथा भोजन आदि में बड़े संयम का पालन करते। इन दिनों वे कुर्ता न पहनकर चादर से शरीर को ढँके नंगे-पाँव ही चलना-फिरना करते। यहाँ तक कि इसी प्रकार बिना कुर्ता तथा जूता पहने कॉलेज भी चले जाते थे। तत्कालीन सिटी कॉलेज की ब्राह्मसमाजी संस्कृति में इसे असभ्यता का द्योतक माना जाता था, इसीलिये प्राध्यापक हेरम्ब मैत्र ने एक बार सुधीर के प्रति नाराजगी भी दिखायी थी।

सुधीर एक बार खगेन, कालीकृष्ण आदि कई मित्रों के साथ एक छोटी नौका में दक्षिणेश्वर गये। वहीं रात बिताने की योजना थी। पंचवटी में सारी रात ध्यान-धारणा करते हुए उन लोगों का समय बड़े आनन्द में बीता। उन्हें काली-मन्दिर के भण्डार से चावल, दाल, हण्डी, लकड़ी, नमक आदि सब भिक्षा-रूप में मिल गया, अत: खिचड़ी पकाकर भोजन की व्यवस्था हुई थी। सुधीर का यही प्रथम दक्षिणेश्वर-दर्शन था।[२] अगले दिन अपराह्न में वे लोग कलकत्ते लौटे थे।

संसार के गोरखधन्धे के बीच सुधीर के प्राण छटपटाया करते थे। किसी अज्ञात वस्तु की खोज में उनका मन अस्थिर होने लगा। इसी बीच वैराग्य की प्रेरणा से उन्होंने दो बार गृहत्याग किया। एक बार वे पैदल ही प्राय: ३२० कि.मी. चलकर देवघर तक जा पहुँचे थे। पर तब भी शायद उनका समय नहीं आया था, इसीलिये उन्हें किसी अज्ञात आकर्षण से लौट आना पड़ा था। सुधीर की सदा से ही पढ़ने-लिखने में अभिरुचि थी और अब वे और अधिक तन्मयता के साथ धर्मग्रन्थों आदि का अध्ययन करने लगे। १८९० ई. से ही वे वराहनगर मठ तथा काँकुड़गाछी के योगोद्यान में श्रीरामकृष्ण के भक्तों के साथ परिचित हुए थे। वराहनगर मठ में सुधीर तथा उनके संगी लोग एकान्त में योगेन महाराज के पास बैठकर उनके साथ खूब चर्चा करते। इन्हीं दिनों उनका श्रीरामकृष्ण के कई पार्षदों के साथ घनिष्ठ परिचय का सूत्रपात हुआ। परवर्ती काल (१९३४ ई.) में उन्होंने एक पत्र में अपनी व्यक्तिगत स्मृतियों का वर्णन किया था –

"मुझे याद है कि १८९० ई. के प्रारम्भ में जब मैं पहली बार वराहनगर मठ गया, उस समय उन्हें (स्वामी अद्वैतानन्द को) वहाँ देखा था। उस दिन गिरीश घोष तथा अभेदानन्द स्वामी विभिन्न प्रकार की दार्शनिक चर्चाएँ कर रहे थे। उन दिनों मैं एंट्रेंस कक्षा में पढ़ता था। उनके पास जाकर अन्य आगन्तुकों के समान मैं भी थोड़ी देर बैठा रहा। कहना न होगा कि मैं उनकी चर्चाओं का तात्पर्य समझ नहीं सका। इसके बाद जब मैं उठा, तो भलीभाँति याद है कि गोपाल दादा एक कमरे में घुसे और सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा संकलित 'रामकृष्ण परमहंसदेव की उक्तियाँ' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका का प्रथम भाग मेरे हाथ में देकर बोले, 'आज दर्शन-शास्त्र की बातें हो रही थीं – खैर, इस पुस्तक को पढ़ो, फिर एक दिन मठ में आना।' "

१८९३ ई. का अन्तिम काल था। हाल ही में स्वामी विवेकानन्द द्वारा सुदूर पश्चिम में बजायी गयी वेदान्त की दुन्दुभि-ध्वनि ने, सागर-तरंगों के ऊपर से होते हुए आकर पूर्व के नभ तथा वायुमण्डल में हलचल मचाना आरम्भ कर दिया था। पाश्चात्य देशों में स्वामीजी के वज्रघोष से भारत की चारों दिशाएँ निनादित होने लगी थीं। भारतवासी अपनी सुदीर्घ निद्रा से जागकर हिलने-डुलने लगे थे। इस देश के लगभग सभी समाचार-पत्रों में उन दिनों स्वामीजी के वेदान्त-प्रचार की खबरें प्रकाशित हुआ करती थीं। सुधीरचन्द्र बड़े उत्साह तथा उद्दीपना के साथ इन समाचारों को पढ़ते।

धर्मतला मुहल्ले में 'इंडियन मिरर' नामक समाचार-पत्र का दफ्तर था। उसका ताजा अंक दफ्तर के बाहर की दीवार पर लगे हुए बोर्ड के ऊपर चिपका दिया जाता था। सुधीर का कॉलेज में पढ़ना बन्द हो चुका था और स्वामीजी के विषय में समाचार जानने की आकांक्षा से वे बारम्बार इस 'इंडियन मिरर' के कार्यालय में आते-जाते रहते थे। स्वामीजी के बारे में वे जितना ही जानने लगे, उतना ही उनके मन-प्राण आशा तथा आनन्द से नृत्य कर उठते। वे यह सोचकर अधीर हो उठते कि कब उन महापुरुष का दर्शन होगा! अभी से वे मन-ही-मन अपने जीवन के कर्णधार का वरण करने लगे।

इस बीच सुधीर के किसी-किसी मित्र का वराहनगर तथा आलमबाजार मठ के साथ खूब घनिष्ठ सम्पर्क हो गया था। सुधीर भी मठ के ज्वलन्त अग्नि के सदृश श्रीरामकृष्ण-पार्षदों के सम्पर्क में आकर उनकी भावधारा के प्रति क्रमश: अधिकाधिक आकृष्ट होते रहे। बीच-बीच में आलमबाजार मठ के स्वामी अद्भुतानन्द आदि कोई-कोई संन्यासी स्वयं भी सुधीर के अड्डे पर पहुँच जाते। उस समय वहाँ मानो आनन्द का बाजार लग जाता। संध्या को समवेत प्रार्थना-भजन के बाद श्रीरामकृष्ण

२. श्रीरामकृष्ण जब स्थूल देह में दक्षिणेश्वर के देवालय में विराजते थे, उसी काल में उनके साथ साक्षात् भेंट न होने के बावजूद, विधाता की अदृश्य प्रेरणावश तभी से सुधीर स्वयं अनजाने ही 'श्रीरामकृष्ण' नाम के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके एक पत्र में इसका संकेत मिलता है। उन्होंने लिखा है, "मेरे अपने जीवन की बात तुम्हें विशेष रूप से और क्या लिखूँ श्री ठाकुर जब स्थूल शरीर में विद्यमान थे, उन दिनों आयु कम होने पर भी मैंने अनेक लोगों के मुख से उनकी बातें सुनी थी और उनके मुद्रित उपदेश भी पढ़े थे। परन्तु दुर्भाग्यवर्श उनका दर्शन करने नहीं गया।" (१३ नवम्बर १९३७ ई. का पत्र)

की लीलाकथा पर चर्चा होती और उसके बाद किसी शास्त्र-ग्रन्थ का भी पाठ होता। पाठ तथा व्याख्या आदि प्राय: सुधीर ही करते। लगभग दो वर्ष पूर्व (१८९१) उनके मित्र कालीकृष्ण वराहनगर मठ में सम्मिलित हो गये थे, पर रुग्ण हो जाने के कारण श्रीमाँ सारदादेवी के आदेश पर फिर से घर लौटकर वहीं निवास कर रहे थे। इसके बावजूद कालीकृष्ण का अन्तर्मुखी स्वभाव उनके मन में संसार की बातों को बिल्कुल भी प्रविष्ट नहीं होने दे रहा था। वे अपने कमरे का द्वार बन्द करके सर्वदा जप-ध्यान तथा पाठ आदि में ही अपना समय बिताया करते थे। इन दिनों सुधीर प्रतिदिन अपराह्न में उनके पास जाकर धर्मचर्चा आदि किया करते। सुधीर मंत्रमुग्ध हो बड़ी तन्मयता के साथ कालीकृष्ण के मुख से वराहनगर तथा आलमबाजार मठ की विभिन्न बातें सुना करते थे।

इस बीच सुधीर कुछ दिनों के लिये वाराणसी गये थे। उन दिनों अद्वैतानन्द जी वहाँ तपस्या कर रहे थे। सुधीर उनके पुनीत सान्निध्य में बड़े आनन्दपूर्वक रहे। परन्तु सहसा बुखार हो जाने के कारण उन्हें कलकत्ते लौट आना पड़ा। यह १८९६ ई. के किसी समय की बात है।

१८९७ ई. की फरवरी का महीना। पाश्चात्य देशों में कई वर्षों से वेदान्त की विजय-पताका लहराने के बाद स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे। उनकी जन्मभूमि कलकत्ते की धरती पर आज उनका पदार्पण होने वाला था, इसीलिये सियालदह स्टेशन पर मानो जन-समुद्र उमड़ पड़ा था। सुधीर के लिये उस दिन घर में बैठे रह पाना असम्भव था। जिनकी आशा में वे इतने दिनों से राह देख रहे थे, आज उनका प्रत्यक्ष दर्शन होने वाला था। सुधीर बड़े तड़के ही उठकर सियालदह स्टेशन पर जा पहुँचे। क्रमश: स्वामीजी की गाड़ी ने प्लेटफार्म में प्रवेश किया। बड़े आश्चर्य की बात है कि सुधीर प्लेटफार्म के जिस स्थान पर खड़े होकर सतृष्ण नेत्रों से प्रतीक्षा कर रहे थे, स्वामीजी का डिब्बा ठीक उसी स्थान पर उनके सामने ही आकर रुका। चार आँखें मिलीं और आज से सुधीर के जीवन की गति एक नये उद्यम तथा एक नवीन वेग से धावित हो चली। स्वामीजी डिब्बे के द्वार पर हाथ जोड़े खड़े होकर समवेत लोगों का अभिवादन स्वीकार कर रहे हैं। और इसके साथ ही उन्होंने उस जन-समुद्र के बीच खड़े अज्ञात सुधीर के हृदय को भी आकृष्ट कर लिया। 'जय स्वामी विवेकानन्द की जय', 'जय श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की जय' की आनन्द-ध्वनि से आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। सुधीर ने भी उस दिन पूरे हृदय से उस जयध्वनि में योगदान किया था।

स्वामीजी को ट्रेन से उतारने के बाद उनके लिये निर्दिष्ट एक सुसज्जित गाड़ी में बैठाया गया। उत्साही युवकों की टोली ने उनकी गाड़ी के घोड़ों को खोल दिया और स्वयं ही खींचते हुए ले चले। सुधीर ने भी उन लोगों में शामिल होने का प्रयास किया, पर भीड़ के कारण उनके लिये वैसा कर पाना सम्भव नहीं हो सका। सियालदह स्टेशन से रिपन कॉलेज तक का मार्ग कई तरह की रंग-बिरंगी पताकाओं और लता-पत्र तथा पुष्पों से सुसज्जित किया गया था। विभिन्न प्रकार के वाद्यों तथा गीतों से चारों दिशाओं को गुँजाती हुई वह शोभायात्रा एक तरंगायित नदी के समान प्रवाहित हो रही थी। स्वामीजी की गाड़ी क्रमश: रिपन कॉलेज (अब सुरेन्द्रनाथ कॉलेज) के सामने खड़ी हुई और तब उन्हें स्वामीजी का भलीभाँति दर्शन मिला। गाड़ी से उतरने के बाद स्वामीजी ने समवेत लोगों के प्रति अंग्रेजी में दो-चार बातें कहीं। उस दिन उस विशाल जन-समुद्र को ठेलकर उन्होंने जिस प्रकार स्वामीजी का दर्शन किया था, उस रूप की एक उज्ज्वल स्मृति सुधीर के हृदि-कन्दर में चिरकाल के लिये अंकित हो गयी थी। उस रूप का वर्णन उन्हीं के शब्दों में, "उनका मुख तप्त स्वर्ण के रंग का था, मानो ज्योति फूटकर निकल रही हो; परन्तु मार्गजनित श्रम के कारण चेहरा पसीने की बूँदों से थोड़ा-सा मलिन हो रहा था।"

कलकत्ते लौटकर स्वामीजी बागबाजार में पशुपति बाबू के मकान में ठहरे थे। सुधीर भी अपने मित्र खगेन के साथ उस प्रथम दिन के अपराह्न में ही पुन: उनके श्रीचरणों का दर्शन करने जा पहुँचे। स्वामी शिवानन्द दोनों युवकों को दुमंजले पर स्वामीजी के कमरे में ले गये और बोले, "ये आपके बड़े admirer (प्रशंसक) हैं।" परन्तु उस समय स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ बातचीत करने में इतने तल्लीन थे कि सुधीर आदि को उनके साथ बातें करने का मौका ही नहीं मिला। प्रणाम के बाद ही विदा लेनी पड़ी। परन्तु गुरुभाइयों को कही गयी स्वामीजी की एक बात सुधीर की स्मृति में सदा के लिये मुद्रित हो गयी थी। स्वामीजी योगेन महाराज से कह रहे थे, "देख योगेन, जानता है वहाँ मैंने क्या देखा? सारी पृथ्वी पर एक ही महाशक्ति का खेल चल रहा है। हमारे पूर्वजों ने उसे धर्म के रूप में अभिव्यक्त किया था और आधुनिक पाश्चात्य लोगों ने उसी को महा-रजोगुण की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः समग्र जगत् उसी एक महाशक्ति का वैचित्र्यपूर्ण खेल मात्र है।"

कुछ दिनों बाद काशीपुर में स्थित गोपाल लाल शील के उद्यान-भवन में स्वामीजी के ठहरने की व्यवस्था हुई थी। यहीं सुधीर की स्वामीजी के साथ पहली भेंट तथा बातचीत हुई। एक दिन सुधीर जब आकर स्वामीजी को प्रणाम करने के बाद बैठे, तो उन्होंने सहसा पूछा, "क्या तू तम्बाकू पीता है?" उस समय वहाँ दूसरा कोई नहीं था। सुधीर थोड़े संकुचित होकर बोले, "जी नहीं।" इस पर स्वामीजी बोले, "हाँ, बहुत-से लोग कहते हैं कि तम्बाकू पीना अच्छा नहीं है, मैं भी छोड़ने का प्रयास कर रहा हूँ।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२५८. जो जस करै, सो तस फल चाखा

एक बार कौडिण्य ऋषि वैकुण्ठ लोक गए। वहाँ उन्होंने भगवान विष्णु से कहा, "यहाँ आते समय रास्ते में मुझे कुछ चमत्कारिक दृश्य दिखाई दिये, जिन्हें देख मैं हैरान रह गया।" "तुमने ऐसे कौन-से दृश्य देखे?" – पूछे जाने पर ऋषि ने बताया, "एक आम्र वृक्ष फलों से लदा हुआ था, पर उस वृक्ष पर एक भी पक्षी दिखाई नहीं दिया और न ही कोई पक्षी उस ओर आ रहा था। एक गाय चारागाह में खड़ी थी। उसमें जो घास उगी थी, वह उसे खाने की चेष्टा कर रही थी, पर घास को छू नहीं पा रही थी। आगे मुझे एक उछलता-कूदता हाथी और निरर्थक रेंगता हुए एक गधा दिखाई दिया। इसके बाद मुझे एक तालाब दो भागों में बँटा दिखाई दिया। पानी का गुण चंचलता है, मगर दोनों हिस्सों का जल स्थिर था। इस कारण दोनों अत्यन्त निकट होते हुए भी एक नहीं हो पा रहे थे। क्या आप इन चमत्कारिक दृश्यों का कारण बताकर मेरी जिज्ञासा का निराकरण करेंगे?"

भगवान बोले, "ऋषिवर आपको जो दृश्य दिखाई दिये, वे पूर्वजन्मों के संचित कर्मफल हैं। आम का वृक्ष पूर्वजन्म में एक वेदों का विद्वान ब्राह्मण था। उसने अपने ज्ञान को स्वयं तक ही सीमित रखा। प्राप्त ज्ञान का दान न करने के फल से ही उसे इस जन्म में निरुपयोगी आम्रवृक्ष बनना पड़ा। गाय पूर्वजन्म में एक ऊसर जमीन थी। किसी के भी काम न आने के कारण इस जन्म में हरी-भरी घास उपलब्ध होने के बावजूद वह घास खाने में असमर्थ थी। हाथी और गधा पूर्वजन्म में बड़े ही उच्छृंखल तथा क्रोधी स्वभाव के थे। सब उनके उत्पातों से परेशान थे। उल्टी-सीधी हरकतें करने और अकारण ही चिल्लाने के कारण इस जन्म में उन्हें उछलना-कूदना तथा चिल्लाना पड़ रहा है। रही तालाबों की बात, तो ये दोनों पूर्वजन्म में सगी बहने थीं। एक घर में रहते हुए भी बड़ी बहन अपना वर्चस्व दिखाती हुई छोटी बहन को ठीक से खाने को नहीं देती थी। उसे रूखा-सूखा तथा बचा-खुचा ही खाना पड़ता था। यही कारण है कि इस जन्म में तालाब दो भागों में विभाजित हुआ और अत्यन्त नजदीक होते हुए भी उनके लिए एकाकार हो पाना सम्भव नहीं हुआ है।"

चाहे कोई जड़ वस्तु हो, या चेतन प्राणी – हर मनुष्य को दूसरों का हित करना चाहिए। पूर्वजन्म के पापों तथा पुण्य-कर्मों का अगले जन्म में अलग-अलग फल मिलता है। हर जन्म के न भोगे हुए कर्म संचित होते रहते हैं।

२५९. कबीर सोई पीर है, जो जाने परपीर

मन में विश्वविजयी बनने की तमन्ना सँजोए सिकन्दर भारत आया। उसने सुना था कि यहाँ के साधु बड़े ही विद्वान ज्ञानी और हाजिर-जवाब होते हैं। उनकी परीक्षा लेने के इरादे से उसने सिपाहियों को कुछ साधुओं को पकड़ लाने को कहा। सिपाहियों ने शीघ्र ही पाँच साधुओं को पकड़कर उसके सामने पेश किया। सिकन्दर ने उन सबको एक पंक्ति में खड़े होने को कहा और पहले साधु से पूछा, "सबसे अधिक प्राणी पृथ्वी पर हैं, या समुद्र में?" साधु ने हँसते हुए उत्तर दिया, "समुद्र पृथ्वी का ही अंश होने के कारण पृथ्वी पर ही सबसे ज्यादा प्राणी हैं।"

"जानवरों में सबसे ज्यादा बुद्धिमान कौन है?" इस प्रश्न के उत्तर में दूसरे साधु ने कहा, "जो जानवर मनुष्य के लिये अभी अज्ञात हैं, वे ही सर्वाधिक बुद्धिमान हैं, क्योंकि सुरक्षित स्थान पर होने से उसे अपने मारे जाने का भय नहीं है।" तीसरे से सिकन्दर ने पूछा, "राजविद्रोह होने का क्या कारण है?" साधु बोले, "अन्याय और अत्याचार की भी एक सीमा होती है। राजा जब सीमा लाँघ जाता है, तो स्वाभिमान तथा सम्मान से जीनेवाले लोग विद्रोह करने को विवश हो जाते हैं।" चौथे साधु से पूछा गया, "पहले दिन हुआ या रात?" साधु ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया, "भला यह भी कोई प्रश्न है? दिन बीतने के बाद ही रात होती है, अत: दिन पहले हुआ।" सही-सही जवाब सुन-सुनकर सिकन्दर खीझ-सा गया था। उसने सोचा कि अन्तिम साधु से ऐसा प्रश्न किया जाय कि वह उत्तर न दे सके। उसने काफी सोच-विचार के बाद पूछा, "मनुष्य को देवता कब कहना चाहिए?" साधु तुरन्त बोले, "जब वह दानवता का परिचय न दे।" दानवता क्या होती है?" पूछे जाने पर साधु ने कहा, "परदु:ख-कातरता यानी दूसरों का दु:ख-दर्द दूर करने के इरादे से कर्म करना मानवता है और निरीह-बेकसूर लोगों के साथ पशुवत व्यवहार करना, उन पर नाना अत्याचार और जुल्म करना, दानवता है। प्रश्नों का सटीक तथा विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर सिकन्दर इतना प्रभावित हुआ कि उसने साधुओं को झुककर प्रणाम किया। उसने साधुओं को अशरफियों की थैली भेंट की, जिसे उन्होंने विनम्रता के साथ लौटा दिया। विश्वविजयी बनने का स्वप्न देखने वाले सिकन्दर को तुच्छ माने जाने वाले भारतीय साधुओं के समक्ष अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी।

❑❑❑

कर्मयोग – एक चिन्तन (२५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

संसार में एक समस्या के समाप्त होते ही, दूसरी समस्या आ खड़ी होती है। जब तक मेरे जीवन में समस्या है, गीता हमें उसका समाधान देती रहेगी।

किन्तु जब तक हमारे मन में यह विकल्प है कि ईश्वर को छोड़कर, आध्यात्मिकता को छोड़कर हमें जीवन में स्थायी शान्ति मिल जायेगी, हमारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा, तब तक हमारा जीवन संतुलित नहीं हो सकता है। प्रभु कृपा करें कि सबका जीवन सुखी हो जाय, किन्तु हमें दृढ़ता से यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर से जुड़े बिना हमें स्थायी शान्ति नहीं मिल सकती। जब तक कर्तापन रहेगा, तब तक जीवन में समस्या रहेगी और अनन्त जन्मों तक रहेगी। अगर आप पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, तो मत कीजिए। जलती आग में ऊँगली डालने से अंगुली जलेगी ही। यह सत्य है। हम चाहे विश्वास करें या न करें। पुर्नजन्म में हमारे विश्वास न करने से, सत्य नहीं बदल जायेगा, सत्य तो सत्य ही रहेगा।

अब तीसरे अध्याय का यह श्लोक हमारे जीवन को उन्नत करने के लिये, हमारे दोषों को दूर करके शांति प्रदान करने के लिये कहा गया है। इस महाश्लोक को समझकर तथा उस पर आचरण करने से मानव उन्नत हो सकता है। संसार में कैसे रहना चाहिये, जिससे हम इसी जीवन में शान्ति का अनुभव कर सकें? जब प्रारब्ध के अनुसार मृत्यु आये, तो जैसे पुराने फटे कपड़े छोड़कर हम नये कपड़े आनन्द से पहन लेते हैं, उसी प्रकार जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर सकें, भगवान उसका उपाय बता रहे हैं –

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। (३-३०)

– हे अर्जुन, मुझ में ही अपना सम्पूर्ण चित्त लगाकर सभी कर्मों को अर्पण करके आशा, ममता और संतापरहित होकर युद्ध करो।

यदि संसार में आये हो, तो कर्म तो करना है, युद्ध तो करना है, उसे मुझमें स्थित होकर करो। आप-हम-सब संसार में हैं। संसार एक रणभूमि है, जहाँ हम सबको अपने घर-परिवार के लिये कर्म-युद्ध करना पड़ता है। अपनी जीविका के लिए, विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं। यह प्रयत्न युद्ध है। इस युद्ध में जय-पराजय का प्रश्न नहीं है। गीता में युद्ध में जय-पराजय की कहीं बात नहीं है। बात है जय-पराजय से ऊपर उठकर कर्तव्य करने की, कर्म करने की। भगवान दूसरे अध्याय में कहते हैं –

सुख दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जया-जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२-३८)

– हे अर्जुन सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय सब में समान रह कर युद्ध करो। इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

जब हम मन की समता प्राप्त करने के पश्चात् संसार के कर्म करेंगे, तो हमारे जीवन में शान्ति आयेगी। कर्म कैसे करें? भगवान कहते हैं – अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य। अध्यात्म बुद्धि से, ईश्वर-समर्पण बुद्धि से सभी कर्म मुझे समर्पित करके करो।

जब कभी भगवान मैं या मुझे समर्पण की बात कहते हैं तो इसका अर्थ है कि कृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के अवतार थे। अत: परमात्मा को समर्पण करो। सदा इस भाव को याद रखें कि भगवान स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। अत: सभी कर्म अपने स्वामी के लिये कर रहा हूँ। यही समर्पण की प्रक्रिया है। इसका अर्थ व्यक्ति नहीं, परमात्मा होता है।

सूत्र यह है कि सृष्टि को बदलने का प्रयत्न मत करो। सृष्टि जैसी है, वैसी ही रहेगी। नमक नमक ही रहेगा, शक्कर मीठी ही रहेगी। दुनिया पहले जैसी थी, वर्तमान में वैसी ही है और भविष्य में भी वैसी ही रहेगी। इस सृष्टि को बदलने की मूर्खता में करोड़ों लोग मिट गये। जितने पुराणों की कथा है – हिरण्यकश्यपु या और दूसरों की कथा है, हमारे जमाने में हिटलर, मुसोलिनी या जर्मन सम्राट टोजो की कथा है, इन सब लोगों ने सृष्टि बदलने का प्रयत्न किया। इसमें करोड़ों लोग मर गये, अरबों की सम्पत्ति नष्ट हो गयी, पर सृष्टि ज्यों की त्यों ही रही। महायुद्ध नहीं, पर यह युद्ध सतत् चल रहा है। इसलिये गीता कहती है कि सृष्टि बदलने का प्रत्यन मत करो, अपनी दृष्टि बदलो। यह कैसे होता है? मैं आपको एक छोटी सी घटना बताता हूँ।

आपकी सेवा में आने के पहले किसी भक्त को मैं यह उदाहरण दे रहा था। मेरे मित्र ने मुझे यह घड़ी दी। पहले यह घड़ी दूकान वाले के पास थी। घड़ीवाले को पैसे देकर उसने खरीद ली। दूकान के मालिक की दृष्टि इस घड़ी के प्रति बदल गयी। इन सज्जन ने पैसे से खरीद ली, इसलिये अब ये घड़ी इनकी हो गयी। उन सज्जन ने मुझे दे दी, तो उनकी दृष्टि बदली गयी कि अब ये घड़ी स्वामी जी की है, मेरी नहीं है। अभी इस घड़ी के प्रति मेरी दृष्टि क्या है, इसे आपको जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, इससे आपको कोई लाभ नहीं

होने वाला है। घड़ी के प्रति प्रत्येक की क्या दृष्टि है, इस पर ध्यान दें। घड़ी के प्रति दूकान वाले की दृष्टि बदली, मेरे मित्र की दृष्टि बदली, किन्तु घड़ी वही है। दृष्टि बदलने से घड़ी नहीं बदली, किन्तु घड़ी की मालकियत बदल गयी। उससे मेरा अहंकार जुड़ गया। इसलिये गीता माता हमें यह कहती हैं कि अपनी दृष्टि बदलो, तो सृष्टि अपने आप बदल जायेगी। यह हम सबका आपका भी अनुभव है।

अभी २० दिन पहले यहीं गुजरात में मेरे मित्र के नाती का विवाह हुआ। मुझे उस लड़की के माँ के घर अहमदाबाद जाना था। मैं कार से जा रहा था। उसका पता मेरे पास नहीं था। केवल टेलीफोन नम्बर था। तीन-चार महीने पहले, जब उसका विवाह नहीं हुआ था, तब उस समय भी मैने उसे फोन से वहाँ अपने जाने की खबर दे रहा था। वह लड़की बोली, 'हाँ दादू, जरूर आइयेगा। मैंने पूछा, 'तू कहा से बोल रही हैं? तो वह बोली, 'मैं अपने घर से बोल रही हूँ। उसने पता अपने घर का पता बता दिया।

अब ३-४ महिने पहले मैं जब उससे फोन से बात कर रहा था, तो उसने फोन उठाया, मेरी आवाज पहचान ली। मैंने पूछा, तू कहाँ से बात कर रही है? तो वह बोली, 'मैं बड़ोदा से अपने घर से बात कर रही हूँ। फिर मुझे याद आया कि अरे, इसकी तो शादी हो गयी है। फिर मैंने उसकी माँ के घर का पता पूछा। तो उसने मुझे नम्बर दिया, हम उधर पहुँच गये। तीन सप्ताह पहले इस बच्ची की दृष्टि यह थी कि मेरे माँ-बाप का घर मेरा घर है। दादू मेरे माँ-बाप के घर, अपने घर आये हैं। किन्तु अब उसकी दृष्टि बदल गयी। सृष्टि वही है। बड़ोदा में रहने वाला मकान भी वहीं ईंट-पत्थर का है। किन्तु अब दृष्टि बदल गयी। माँ-बाप का घर छूट गया और जिस घर में, जिससे उसका विवाह हुआ, वह घर, परिवार उसका अपना हो गया। इसलिये आप दृष्टि बदलने का प्रयास करें।

सभी कर्मों को भगवान को समर्पित करें। प्रभाव हमारे मन का पड़ता है कि मेरी चेतना किस भाव से समर्पण कर रही है। मान लें, आप मुझे यहाँ किसी मंदिर में ले गये और मैं भगवान से प्रार्थना करूँ कि, हे भगवान, मेरा रायपुर लौट जाने का टिकट कन्फर्म नहीं है, उसे कन्फर्म करवा दो। तो भगवान वही करा देंगे। ठीक है, तू वही चाहता है तो वही करा देता हूँ। यह समर्पण नहीं हुआ। इसमें तो मेरा स्वार्थ था। यह घोर सांसारिकता है। ऐसा सर्मपण किसी काम का नहीं है।

हम पहले अपने चित्त को 'अध्यात्मचेतसा करें, अपने चित्त को अध्यात्म से, ईश्वर से युक्त करें। अभी हमारा चित्त 'संसारचेतसा' है, स्वार्थ चेतसा है। कामनाचेतसा, हमें ये सब पहले छोड़ना पड़ेगा।

मनौती माँगना क्या है? कितने लोग मैने देखे हैं कि पुत्र नहीं हो रहा है, तो जब हुआ तब उसे भगवान के मंदिर ले जाकर भगवान से कहते हैं कि भगवान, पहले तो तुमने तीन पुत्री दी है, वे तो दूसरों के घर की हैं, वे तो अपने ससुराल को या अपने पति को समर्पित हैं, किन्तु यह पुत्र मैं तुमको समर्पित करता हूँ। इस पुत्र को Information technologyका बड़ा अधिकारी बना देना, शेअर मार्केट के कॉर्पोरेट का बड़ा मालिक बना देना कि इसे करोड़ों रूपये, अरबों रूपये की आमदनी हो जाय। इसे ऐसी बहु मुझे देना कि वह मेरी दासी बन जाय। इस तरह की मनौति ईश्वर-समर्पण नहीं है। यह संसारचेतसा, सांसारिक वृत्ति है। ऐसा नहीं चलेगा।

अध्यात्मचेतसः का अर्थ है सब कुछ प्रभु का है। हे प्रभु !

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर ।।

हे प्रभु ! मेरे जीवन में जो कुछ भी है – शरीर-मन-बुद्धि-अहंकार, परिवार सब कुछ, यह तुम्हारी ही वस्तु है, उन सबको मैं तुम्हारे चरणों में अर्पित कर देता हूँ। किसलिए कर रहा हूँ? प्रभु प्रीत्यर्थ – ईश्वर की प्रसन्नता के लिये कर रहा हूँ। ईश्वर से इस प्रकार के प्रेम और भक्ति को अध्यात्मचेतसा कहते हैं। ऐसे समर्पण में भक्त भगवान से बदले में कुछ नहीं माँगता है। जैसे गंगाजल से गंगा की पूजा होती है, वैसे ही हम ईश्वर की वस्तु को ही ईश्वर को देते हैं।

निराशीः – आशा रहित हो जाना। आजकल के बहुत से लड़के-लड़कियाँ हमारे पास आकर कहते हैं कि यह आशारहित होना मनोविज्ञान के विरुद्ध है। मनुष्य यदि आशारहित हो जाय, तो जीवन निरर्थक हो जायेगा। वह किसी काम का नहीं रहेगा। वह तो जीवन्मृत हो जायेगा। मैं कहता हूँ, यह निराशी होना वैसा नहीं है। निराशी होने से जीवन व्यर्थ नहीं होगा। भागवत में भागवताकार कहते हैं, – आशा ही परमं दुखं नैराश्यं परमं सुखम्। निराशा का तात्पर्य है प्रतिदान की इच्छा न रखना, निस्वार्थ हो जाना, किसी से कोई अपेक्षा न रखना। आशा पाश शतैः बद्धाः काम क्रोध परायणाः, ऐसा गीता में कहा गया है। तो अब हम निराशी कैसे बनें? जो कुछ भी काम हम करें, उसे भगवान को समर्पित कर दें। उसके फल की आशा नहीं रखें। कर्म किया और वहीं काम समाप्त। जैसे हम पत्र लिखते हैं, तो पत्र के अंत में 'सस्नेह तुम्हारा' लिखकर हस्ताक्षर कर देते हैं और उसके साथ ही पत्र लिखने का कार्य समाप्त हो जाता है। बाद में उसे पोस्ट कर देते हैं। जब किसी वाक्य की रचना के अंत में हम पूर्ण विराम देते हैं, तो वाक्य समाप्त हो जाता है। वैसे ही निराशी का भी यही अर्थ है। कर्म शुरु किया, तो प्रार्थना करें कि 'प्रभु शक्ति दें, कि हम तेरा यह कर्म तुम्हारी पूजा के रूप में कर सकें। जो तुमने हमको कर्म दिया, उसे हमने तन-मन से किया और अब इसकी समाप्ति पर हम उसका फल भी तुम्हें समर्पित कर रहे हैं। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ।।४६०।।

अन्वय – यदा देहात्मना स्थितिः तदा प्रारब्धं सिध्यति, देहात्मभावः इष्टः न एव, अतः प्रारब्धं त्यज्यतां ।

अर्थ – देहात्म-बोध में स्थिति होने तक ही प्रारब्ध-कर्म युक्तिसंगत है, (श्रुति को) देहात्म-भाव मान्य नहीं है, अतः प्रारब्ध कर्मों की कल्पना को छोड़ देना चाहिये ।

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि ।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः ।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ।।४६१।।

अन्वय – शरीरस्य प्रारब्ध-कल्पना अपि भ्रान्तिः एव हि । अध्यस्तस्य सत्त्वं कुतः? असत्यस्य जनिः कुतः? अजातस्य नाशः कुतः? असतः प्रारब्धं कुतः?

अर्थ – (ज्ञानी के) शरीर के प्रारब्ध की कल्पना भी (कि वह प्रारब्ध से बना है) भ्रान्ति है । (क्योंकि) अध्यस्त वस्तु[१] (देह) की सत्ता ही भला कहाँ है? और असत्य का जन्म भी भला कैसे हो सकता है? जिस (मिथ्या) शरीर का जन्म ही नहीं हुआ, उसका नाश भला कैसे होगा? फिर उस मिथ्या वस्तु (शरीर) का प्रारब्ध भी भला कहाँ से हो सकता है?

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ।।४६२।।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ।।४६३।।

अन्वय – 'यदि ज्ञानेन अज्ञान-कार्यस्य समूलस्य लयः अयं देहः कथं तिष्ठति?' इति शङ्कावतः जडान् समाधातुं बाह्य-दृष्ट्या श्रुतिः प्रारब्धं वदति, तु विपश्चिताम् देहादि-सत्यत्व-बोधनाय न ।

अर्थ – 'यदि आत्मज्ञान से अज्ञान के सारे कार्य समूल नष्ट हो जाते हों, तो फिर ज्ञानी का शरीर (अज्ञान का कार्य होने से) कैसे रह सकता है?' ऐसी शंका करनेवाले मूढ़बुद्धि (अज्ञानी) लोगों के समाधान हेतु श्रुति बाह्य (सापेक्ष) दृष्टि से प्रारब्ध के बारे में कहती है, न कि ज्ञानी लोगों के देह आदि की सत्यता समझाने के लिये ।

नानात्व का निषेध –

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६४।।

अन्वय – परिपूर्णम् अनादि-अनन्तम् अप्रमेयम् अविक्रियम् एकम्-एव-अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म – सभी प्रकार से परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ज्ञान के साधनों के अतीत), अविक्रिय (अपरिणामी, परिवर्तन-रहित), एक और अद्वैत है । इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६५।।

अन्वय – सद्घनम् चिद्घनम् नित्यम् आनन्दघनम् अक्रियम् एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म सत्-स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप, नित्य आनन्द-स्वरूप, निष्क्रिय, एक और अद्वैत है । इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६६।।

अन्वय – प्रत्यक्-एकरसं पूर्णम् अनन्तम् सर्वतोमुखम् एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म सबका अन्तर्यामी, एकरस (घनीभूत), पूर्ण, अनन्त, सर्वव्यापी, एक और अद्वैत है। इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

अहेयमनुपादेयमनादेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६७।।

अन्वय – अहेयम् अनुपादेयम् अनादेयम् अनाश्रयम् एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म (सबका स्वरूप होने के कारण) न त्याज्य है न ग्राह्य, न किसी में स्थित होने योग्य है, न जिसका कोई अन्य आश्रय है; यह एक और अद्वैत है। इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६८।।

अन्वय – निर्गुणम्, निष्कलम्, सूक्ष्मम्, निर्विकल्पम्, निरञ्जनम्, एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – ब्रह्म निर्गुण, निरवयव (अंशरहित), सूक्ष्म, निर्विकल्प (मन के अगोचर), निरंजन (दोषरहित), एक और अद्वैत है । इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६९।।

अन्वय – अनिरुप्य-स्वरूपम् यत् मनोवाचाम् अगोचरम् एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म, इह नाना किञ्चन न अस्ति ।

अर्थ – जिसके स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता और जो मन तथा वाणी का अगोचर है, यह ब्रह्म एक और अद्वैत है । इसमें नानात्व (बहुत्व) का लेश तक नहीं है ।

❖ (क्रमशः) ❖

१. वास्तविक रस्सी में मिथ्या सर्प की कल्पना के समान ही ब्रह्म में जगत् का तथा आत्मा में शरीर की कल्पना 'अध्यास' कहलाता है; और सर्प, जगत् तथा देह 'अध्यस्त' वस्तुएँ हैं।

स्वामीजी की शिकागो यात्रा : १२०वीं वर्षगाँठ

युगनायक स्वामी विवेकानन्द की मुम्बई से शिकागो की ऐतिहासिक यात्रा की १२०वीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर ३१ मई, २०१३ को एक कार्यक्रम आयोजित किया गया, जिसका उद्घाटन भारत के राष्ट्रपति महामहिम श्रीप्रणव मुखर्जी ने किया। उन्होंने उपस्थित गणमान्य अतिथियों के साथ स्वामीजी की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया। कार्यक्रम में मुख्य रूप से महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री के. शंकर नारायण, पूर्व उप-प्रधानमंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी, महाराष्ट्र के पूर्व मुख्यमंत्री श्री मनोहर जोशी, रामकृष्ण मठ व रामकृष्ण मिशन के सह-सचिव स्वामी सुवीरानन्दजी आदि उपस्थित थे। मुम्बई रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी सर्वलोकानन्द जी ने स्वागत भाषण किया। आबजर्वर रिसर्च फांउडेशन, मुम्बई के अध्यक्ष श्री सुधीन्द्र कुलकर्णी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

युवा-सम्मेलन

१९ जुलाई २०१३ को दुर्ग जिले के घुघुआ में एक युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ५९० प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

नाटक हुआ

२७ जुलाई, को विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में विवेकानन्द केन्द्र के निर्देशन में स्वामीजी पर नाटक प्रस्तुत किया गया।

युवा-शिविर

श्रीरामकृष्ण सेवामंडल, भिलाई के निर्देशन में १५ अगस्त, २०१३ को अशा.उ.मा.शा. ग्राम-ननकठी, दुर्ग में एक युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने युवकों को संबोधित किया। बच्चों ने बड़े ही जीवनोपयोगी प्रश्न भी पूछे, जिनके उत्तर स्वामी सत्यरूपानन्द जी प्रदान किया। बच्चों ने छत्तीसगढ़ के लोकनृत्य, सुआ-नृत्य, रासलीला आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये। इस शिविर का आयोजन विद्यालय की प्राध्यापिका एवं सारदा संघ की सक्रिय सदस्या श्रीमती अचला अग्रवाल ने किया था। शिविर में २२५ छात्रायें, ७५ छात्र और ७५ अभिभावक, शिक्षक आदि कुल ३७५ लोगों ने भाग लिया। छात्र-छात्राओं एवं आगन्तुक अतिथियों को स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तकें, बिस्कुट, चॉकलेट दिये गये और विशेष सहयोगी कार्यकर्ताओं को वस्त्र आदि से भी सम्मानित किया गया। समापन सत्र में स्थानीय नागरिकों समेत लगभग ५०० लोग उपस्थित थे।

रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई

ने २६ और २७ जुलाई, २०१३ को श्रीशंकराचार्य इंजीनियरिंग कॉलेज, भिलाई और १२ अगस्त, २०१३ को श्रीशंकराचार्य महाविद्यालय, सेक्टर-६, भिलाई में व्यक्तित्व विकास पर कार्यशाला का आयोजन किया। विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, छत्तीसगढ़, स्वामी विवेकानन्द तकनीकी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. बी. सी. मल, डॉ. पी. बी. देशमुख, विवेकानन्द केन्द्र की उपाध्यक्ष निवदिता रघुनाथ भिड़े आदि ने सभा को संबोधित किया। सब जगह विवेकानन्द साहित्य का बुक-स्टाल लगाया गया था। डॉ. हिमालचल मढ़रिया ने यह कार्यक्रम अपने सहयोगी श्रीमती संघमित्रा, अपर्णा आनन्द, रजनी बिजुरकर और कुमारी सृष्टि आदि की सहायता से सम्पन्न किये।

मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का अर्द्धवार्षिक सम्मेलन, स्मारिका विमोचन और वेबसाइट उद्घाटन हुआ

२१-२२ सितम्बर, २०१३ को मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का अर्द्धवार्षिक सम्मेलन रामकृष्ण आश्रम, जबलपुर में आयोजित किया गया। जिसमें १७ केन्द्रों के प्रतिनिधियों सहित कुल १४३ लोगों ने भाग लिया। सभा को बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि स्वामी श्रीकान्तानन्द, स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी व्याप्तानन्द, स्वामी राघवेन्द्रानन्द और स्वामी नित्यज्ञानन्द आदि ने संबोधित किया।

मध्यप्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के पचीस वर्ष पूरे होने के रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में एक स्मारिका का विमोचन किया गया। तथा वेबसाइट का उद्घाटन भी हुआ। वेबसाइट का पता है – mpcgrkvbpp.webs.com यह सूचना हमें म.प्र.-छ.ग. रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया ने दी है।

नि:शुल्क स्वास्थ्य परीक्षण

युवा व्यक्तित्व विकास संगठन, रायपुर ने नवापारा में ३०० ग्रामीणों की नि:शुल्क स्वास्थ्य परीक्षण और रक्त जाँच करके आवश्यक दवाइयाँ प्रदान कीं। ❑❑❑